द्वितीयं काण्डम्

अथ तृतीयः प्रपाठकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**ब्रह्म, आत्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वेन का प्रभु-दर्शन

वेनस्तत्पश्यत्परमं गुहा यद्यत्र विश्वं भवत्येकरूपम्।
इदं पृश्निरदुहज्जायमानाः स्वर्विदो अभ्य[नूषत व्राः ॥ १ ॥

१. **वेनः**=प्रभु की महिमा को देखनेवाला और उसकी उपासना करनेवाला ही **तत्**=उस परमात्मा को **पश्यत्**=देखता है, जो **परमम्**=सर्वोत्कृष्ट है और **यत्**=जो **गुहा**=हृदयरूप गुहा में आसीन है, **यत्र**=जिस परमात्मा में **विश्वम्**=यह सारा संसार **एकरूपं भवति**=एकरूप हो जाता है। जैसे भिन्न-भिन्न आकृतिवाली शहद से भरी शीशियाँ, शहद का ज्ञान होने पर इसी रूप में कही जाती हैं कि सब शहद है, इसीप्रकार परमात्मदर्शन होने पर सब समरूप से परमात्मामय ही हो जाता है—'**विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः**'॥ प्रभु-दर्शन होने पर भेदभाव समाप्त हो जाता है और सर्वत्र प्रभु-ही-प्रभु दीखते हैं। २. **जायमानः**=उस प्रभुरूप अध्यक्ष से इस चराचर को जन्म देती हुई **पृश्निः**=यह 'लोहित-शुक्ल-कृष्णा' (diversified, विभिन्नरूपा) प्रकृति **इदम्**=इस जगत् को **अदुहत्**=अपने में से दूहती है—'**मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्**'। इस जगत् का प्रत्येक पदार्थ उस रचयिता प्रभु की रचनाचातुरी को व्यक्त कर रहा है। ये **स्वर्विदः**=आकाश में विद्यमान अथवा प्रकाश को प्राप्त करनेवाले (विद् लाभे) **व्राः**=(वृ आच्छादने) आकाश को आच्छादित करनेवाले तारे **अभ्यनूषत**=उस प्रभु का स्तवन कर रहे हैं। द्रष्टा को इनमें प्रभु की महिमा दीखती है। यह नक्षत्रविद्यावित् इन नक्षत्रों में वर्त्तमान क्रम को देखकर आश्चर्यचकित रह जाता है। यह सचमुच 'वेन' बनता है (वेन्=to see)—प्रभु की महिमा का द्रष्टा।

भावार्थ—'वेन' विश्व के कण-कण में प्रभु की महिमा का दर्शन करता है।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**ब्रह्म, आत्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

विद्वान् गन्धर्व का प्रभु-दर्शन

प्र तद्वोचेदमृतस्य विद्वान्गन्धर्वो धाम परमं गुहा यत्।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुष्पितासत्॥ २ ॥

१. **विद्वान्**=ज्ञानी, **गन्धर्वः**=इन्द्रियों को धारण करनेवाला जितेन्द्रिय पुरुष ही **तत्**=उस **ऋतस्य धाम**=अमृतत्व के आधार **परमम्**=सर्वोत्कृष्ट प्रभु को **यत्**=जोकि **गुहा**=हृदयरूप गुहा में स्थित हैं, **प्रवोचेत्**=प्रतिपादित करता है। जितेन्द्रिय ज्ञानी पुरुष ही इसका ज्ञान देता है। २. **अस्य**=इस प्रभु के **त्रीणि पदानि**=तीन पग **गुहा निहिता**=गुहा में निहित हैं, अर्थात् अत्यन्त रहस्यमय हैं। किस प्रकार वे प्रभु इस सृष्टि की रचना करते हैं, कैसे इस अनन्त-से बोझवाले संसार का धारण करते हैं और किस प्रकार प्रलय करते हैं। **यः**=जो भी **तानि**=इन बातों को **वेद**=जानता है, **सः**=वह **पितुः पिता असत्**=पिता का भी पिता होता है, अर्थात् महान् ज्ञानी

होता है। सृष्टि की रचना, धारण व प्रलय को पूरा-पूरा जान सकना तो सम्भव नहीं—'**को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आ जाता कुत इयं विसृष्टिः**', परन्तु एक गम्भीर विचारक इसका थोड़ा-बहुत आभास पानेवाला बनता है और उस प्रभु का सच्चा उपासक बनकर अपने ज्ञान को और बढ़ाता है तथा उसी ज्ञान का प्रचार करता है। यह ज्ञान देनेवाला प्रजाओं का सच्चा पिता बनता है।

भावार्थ—हम सृष्टि रचना, धारण व प्रलय का विचार करते हुए प्रभु के उपासक बनें, उसका ज्ञान प्राप्त करके उस ज्ञान को फैलानेवाले हों।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**ब्रह्म, आत्मा** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

सब देवों का नामधारक मुख्य देव

स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामध एक एव तं सम्प्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा॥ ३॥

१. **सः**=वे प्रभु ही **नः**=हमारे **पिता**=रक्षक हैं, **जनिता**=हमारी शक्तियों का प्रादुर्भाव करनेवाले हैं **उत**=और **सः**=वे प्रभु ही **बन्धुः**=हमारे कर्मों के अनुसार उस-उस योनि में बाँधनेवाले हैं। वे प्रभु **विश्वा**=सब **भुवनानि**=लोकों व **धामानि**=स्थानों को **वेद**=जानते हैं। उन सबको जानते हुए वे प्रभु हमारे कर्मों के अनुसार उन-उन लोकों व उन-उन स्थानों में हमें जन्म देते हैं। २. **यः**=जो प्रभु **एकः एव**=अकेले ही **देवानाम्**=सब देवों के **नामधः**=नामों को धारण करनेवाले हैं, अर्थात् सूर्य के प्रकाशक होने से वस्तुतः वे ही सूर्य हैं, अतः वे प्रभु ही '**तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः**' अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आपः, प्रजापति हैं। ३. **तम्**=उस **संप्रश्नम्**=(प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्) जानने के लिए ईप्सित प्रभु को **सर्वा भुवना**=सब भुवन **यन्ति**=जाते हैं। सब व्यक्ति उस प्रभु की ओर चल रहे हैं, कई ठीक मार्ग से, कई अज्ञानवश कुछ भ्रान्त मार्ग से, परन्तु अन्ततः सबको पहुँचना वहीं है।

भावार्थ—प्रभु ही सर्वश्रेष्ठ बन्धु हैं। वे हमारे कर्मानुसार हमें उचित लोक व स्थान में जन्म देते हैं। सूर्यादि सब देवों को भी वे ही शक्ति प्रदान करते हैं। सभी अपनी समझ के अनुसार उस प्रभु की ओर चल रहे हैं।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**ब्रह्म, आत्मा** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'धास्यु व अग्नि' प्रभु

परि द्यावापृथिवी सद्य आयमुपातिष्ठे प्रथमजामृतस्य।
वाचमिव वक्तरि भुवनेष्ठा धास्युरेष नन्वे३षो अग्निः॥ ४॥

१. मैं **सद्यः**=शीघ्र **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक में **परि आयम्**=चारों ओर भ्रमण कर आया हूँ। इन द्युलोक एवं पृथिवीलोक के पदार्थों का मैंने निरीक्षण किया है। मैंने इनके अन्दर प्रभु की महिमा को देखने का प्रयत्न किया है। इसके अतिरिक्त **ऋतस्य**=उस पूर्ण सत्य प्रभु की **प्रथमजाम्**=सृष्टि के आरम्भ में आविर्भूत हुई-हुई वाणी को **उपातिष्ठे**=मैंने उपासित किया है। सृष्टि के आरम्भ में दिये गये वेदज्ञान का मैंने अध्ययन किया है। २. संसार के देखने से तथा वेदवाणी के अध्ययन से मैं इसी परिणाम पर पहुँचा हूँ कि **वक्तरि वाचम् इव**=वक्ता में वाणी की भाँति **भुवनेष्ठाः**=ये प्रभु सम्पूर्ण भुवनों में स्थित हैं। जैसे वक्ता में सूक्ष्मरूप से वाणी का निवास है, उसी प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रभु का निवास है। **एषः**

धास्युः=ये प्रभु ही इस ब्रह्माण्ड को धारण करनेवाले हैं। **नु**=निश्चय से **एषः**=ये प्रभु ही **अग्निः**=अग्रणी हैं, सारे ब्रह्माण्ड को अग्रगति देनेवाले हैं।

भावार्थ—संसार का निरीक्षण व वेदज्ञान का परीक्षण हमें एक ही परिणाम पर पहुँचाता है कि वे सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रभु ही इसके धारक व अग्रणी हैं।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**ब्रह्म, आत्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वह विस्तृत सूत्र

परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं विततं दृशे कम्।
यत्र देवा अमृतमानाशानाः समाने योनावध्यैरयन्त ॥ ५ ॥

१. यह सारा ब्रह्माण्ड एक सूत्र में पुरोया हुआ है। इस **ऋतस्य**=ऋत के—पूर्ण सत्य के **विततम्**=विस्तृत **तन्तुम्**=सूत्ररूप **कम्**=आनन्दमय प्रभु को **दृशे**=देखने के लिए मैं **विश्वा भुवनानि परि आयम्**=सब लोकों में चारों ओर घूमा हूँ। इन लोकों के निरीक्षण से मुझे सर्वत्र ओत-प्रोत उस सूत्र की ही महिमा का दर्शन हुआ है। २.यह सूत्र वह है **यत्र**=जिसमें **देवाः**=देववृत्ति के ज्ञानी पुरुष **अमृतम् आनशानाः**=अमृतत्व का उपभोग करते हुए **समाने योनौ**=(सम्यक् आनयति) सबको प्राणित करनेवाले मूलस्थान प्रभु में **अध्यैरयन्त**=गति करते हैं। अमृतत्व प्राप्त सब व्यक्तियों का वह ब्रह्म ही लोक है—सब मुक्त पुरुष समानरूप से उसी में विचरण करते हैं। वह प्रभु इन सब मुक्त पुरुषों का 'समान योनि' है।

भावार्थ—प्रभु ही सब लोक-लोकान्तरों को अपने में पिरोये हुए हैं। सब मुक्त आत्मा भी उस प्रभु में निवास करते हैं। (संसारासक्त पुरुष प्रभु से दूर होते हुए कष्टभाक् होते हैं)।

विशेष—इस सम्पूर्ण सूक्त में वेन प्रभु का उपासन करता हुआ सारी सृष्टि को प्रभु की महिमा का प्रतिपादन करते हुए देखता है (१) उस प्रभु की महिमा का प्रतिपादन जितेन्द्रिय ज्ञानी पुरुष ही कर पाता है (२) वे प्रभु ही सब देवों के नाम को धारण करनेवाले हैं (३) वे संसार के धारक व अग्रणी हैं (४) वे ही सब लोकों में ओत-प्रोत सूत्र हैं (५)।

यह वेन उस प्रभु का ज्ञान प्राप्त करने के कारण अब 'मातृनामा' कहलाता है—'माता-प्रमाता इति नाम यस्य'। यह वेदवाणी के धारक प्रभु की शक्तियों को—गन्धर्वपत्नियों को—सर्वत्र प्रजाओं में विचरण करता हुआ देखता है, इसीलिए ये शक्तियाँ 'अप्सरस'=प्रजाओं में विचरण करनेवाली कहलायी हैं, अतः अगले सूक्त का ऋषि 'मातृनामा' है, विषय व देवता 'गन्धर्वाप्सरसः' हैं—प्रभु की प्रजाओं में विचरण करनेवाली शक्तियाँ। यह मातृनामा स्तवन करता है कि—

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**गन्धर्वाप्सरसः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥

ज्ञान व स्तवन द्वारा प्रभु-प्राप्ति

दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः।
तं त्वा यौमि ब्रह्मणा दिव्य देव नमस्ते अस्तु दिवि ते सधस्थम् ॥ १ ॥

१. वे प्रभु **दिव्यः**=(दिवि भवः) सदा अपने प्रकाशमय रूप में निवास करनेवाले हैं, **गन्धर्वः**=वेदवाणी को धारण करनेवाले हैं, इस वेदवाणी को ही वे सृष्टि के प्रारम्भ में अग्नि आदि ऋषियों के हृदयों में स्थापित करते हैं। **भुवनस्य यः पतिः**=सारे ब्रह्माण्ड के जो रक्षक हैं, वे **एकः एव**=अद्वितीय प्रभु ही **नमस्यः**=नमस्कार के योग्य हैं, **विक्षु ईड्यः**=सब प्रजाओं में स्तुति

करने योग्य हैं। जहाँ भी, जो कुछ विभूति, श्री व ऊर्ज् दृष्टिगोचर होता है, वह उस प्रभु का ही है। वे प्रभु ही उपासनीय हैं। २. हे प्रभो! **तं त्वा**=उस आपको मैं **ब्रह्मणा**=ज्ञान व स्तवन के द्वारा (ब्रह्म=ज्ञान, स्तोत्र) **यौमि**=प्राप्त करता हूँ—अपने को आपके साथ जोड़ता हूँ। हे **दिव्य देव**=प्रकाशमय ज्ञानपुञ्ज प्रभो! **ते नमः**=मैं आपके प्रति नतमस्तक होता हूँ। **ते दिवि**=आपके प्रकाशमय लोक में **सधस्थम् अस्तु**=मेरा आपके साथ ठहरना हो। मैं मुक्त होकर आपके साथ विचरनेवाला बनूँ।

भावार्थ—प्रकाशमय प्रभु का ही उपासन करना योग्य है। ज्ञान व स्तवन के द्वारा हम प्रभु को प्राप्त करें और उसके साथ स्थित होनेवाले बनें।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**गन्धर्वाप्सरसः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

आधिदैविक आपत्तियों का निराकरण

दिवि स्पृष्टो यजतः सूर्यत्वगवयाता हरसो दैव्यस्य।
मृडाद्गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यः सुशेवाः ॥ २ ॥

१. वे प्रभु **दिवि स्पृष्टः**=ज्ञान होने पर प्राप्त होनेवाले हैं। हम प्रभु के सम्पर्क में ज्ञान के द्वारा ही आ सकते हैं। **यजतः**=वे प्रभु पूज्य, संगतिकरणयोग्य व समर्पणीय हैं। हमें उस प्रभु की पूजा करनी चाहिए, उनके साथ अपना सम्पर्क स्थापित करने के लिए यत्नशील होना चाहिए और अन्ततः उस प्रभु के प्रति अपने को दे डालना चाहिए। **सूर्यत्वक्**=(त्वच्= to cover) वे सूर्यादि ज्योतिर्मय पिण्डों को भी आच्छादित करनेवाले हैं, इसलिए वे '**हिरण्यगर्भ**' भी कहलाते हैं—'**हिरण्यं ज्योतिर्गर्भे यस्य**'। इस प्रभु का उपासन करने पर ये **दैव्यस्य**=सूर्य आदि देवों के **हरसः**=प्रकोप के **अवयाता**=दूर करनेवाले हैं। दैवी आपत्तियाँ तभी आती हैं जबकि हम इन देवों के विषय में ग़लत आचरण करते हैं। प्रभु का उपासक इन दोषों से बचा रहता है, अतः दैवी प्रकोपों का शिकार भी नहीं होता। ३. **गन्धर्वः**=वे वेदवाणी के धारक प्रभु **मृडात्**=हमारे जीवन को सुखी करते हैं। ये प्रभु वे हैं **यः**=जोकि **एकः एव**=अद्वितीय ही **भुवनस्य पतिः**=सारे संसार के रक्षक हैं, **नमस्यः**=हम सबके नमस्कार करने योग्य और **सुशेवाः**=उत्तम कल्याण प्राप्त करानेवाले हैं। जब मानवजाति उस एकमात्र प्रभु का ही उपासन करनेवाली होगी तब सब भेदभावों के समाप्त हो जाने से कल्याण-ही-कल्याण होगा। उस एक उपास्य के अभाव में परस्पर भेद व द्वेष चलता है और '**मिथो विघ्नाना उपयन्तु मृत्युम्**'—परस्पर लड़ते हुए हम मृत्यु के मार्ग पर अग्रसर होते हैं।

भावार्थ—प्रकाशमय प्रभु के साथ स्थित होने पर आधिदैविक प्रकोप नहीं होते। उस एक प्रभु की उपासना में ही मानव का कल्याण है।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**गन्धर्वाप्सरसः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सब शक्तियों का आधार 'आनन्दमय प्रभु'

अनवद्याभिः समु जग्म आभिरप्सरास्वपि गन्धर्व आसीत्।
समुद्र आसां सदनं म आहुर्यतः सद्य आ च परा च यन्ति ॥ ३ ॥

१. प्रभु 'गन्धर्व' हैं—प्रभु की शक्तियाँ 'गन्धर्वपत्नी' कहलाती हैं। ये शक्तियाँ ही सब प्रजाओं में (अप्) विचरण (सर) करने के कारण 'अप्सरा' कही गई हैं। मैं **आभिः**=इन **अनवद्याभिः**=अत्यन्त प्रशस्त—अनिन्दनीय प्रभु-शक्तियों से **उ**=निश्चयपूर्वक **संजग्मे**=संगत होता हूँ। २. **अप्सरासु**=इन प्रजाओं में विचरण करनेवाली शक्तियों में **अपि**=भी **गन्धर्वः आसीत्**=वे

वेदवाणी के धारक प्रभु ही तो हैं। **बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजः तेजस्विनामहम्। बलं बलवता-महम्**—इस गीतावाक्य में यही तो कहा है कि बुद्धिमानों की बुद्धि मैं ही हूँ। तेजस्वियों का तेज तथा बलवानों का बल मैं ही हूँ। ३. **मे**=मेरे सम्बन्ध में ज्ञानी लोग **आहुः**=यही कहते हैं कि **आसाम्**=इन सब शक्तियों का **सदनम्**=घर **समुद्रे**=उस आनन्दमय प्रभु में ही है (स+मुद्) **च**=और आनन्दमय प्रभु ही वे आधार हैं **यतः**=जहाँ से ये सब शक्तियाँ **सद्यः**=शीघ्र **आयन्ति**=आती हैं—उस-उस स्थान पर प्राप्त होती हैं **च**=और **परायन्ति**=उस-उस स्थान से लौटकर फिर उसी में पहुँच जाती हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सब शक्तियों के आधार हैं। उन्हीं से ये शक्तियाँ हमें प्राप्त होती हैं और अन्त में प्रभु में ही ये लौट जाती हैं।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**गन्धर्वाप्सरसः** ॥ छन्दः—**त्रिपाद्विराण्नामगायत्री** ॥

नम्रता व शक्तिधारण

अभ्रिये दिद्युन्नक्षत्रिये या विश्वावसुं गन्धर्वं सचध्वे।
ताभ्यो वो देवीर्नम इत्कृणोमि॥ ४॥

१. **अभ्रिये**=अभ्रों व बादलों में प्रकट होनेवाली **दिद्युत्**=विद्युद्रूप द्युति में अथवा **नक्षत्रिये**=नक्षत्रों में प्रकट होनेवाले प्रकाश में **याः**=जो शक्तियाँ हैं, जो **विश्वावसुम्**=सम्पूर्ण वसुओंवाले **गन्धर्वम्**=ज्ञानी प्रभु में **सचध्वे**=समवेत होती हैं। हे **देवीः**=दिव्य गुणोंवाली शक्तियो! **ताभ्यः वः**=उन आपकी प्राप्ति के लिए मैं **इत्**=निश्चय से **नमः कृणोमि**=नमस्कार करता हूँ। २. बादलों की विद्युत् के प्रकाश में तथा नक्षत्रों के प्रकाश में सर्वत्र प्रभु की ही महिमा है। उसी की शक्ति से ये विद्युत् व नक्षत्र चमकते हैं। इस प्रकाश को प्राप्त करने के लिए मैं नम्रता धारण करता हूँ। नम्रता से ये शक्तियाँ मुझे भी प्राप्त होंगी। प्रभु के तेज को धारण करने के लिए हमें विनीत बनना ही चाहिए।

भावार्थ—हम जितना विनम्र बनते हैं, उतना ही प्रभु की प्रकाशमय शक्तियों को धारण करते हैं।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**गन्धर्वाप्सरसः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

अप्सराएँ

याः क्लन्दास्तमिषीचयोऽक्षकामा मनोमुहः।
ताभ्यो गन्धर्वपत्नीभ्योऽप्सराभ्योऽकरं नमः॥ ५॥

१. प्रभु गन्धर्व हैं, वेदवाणी के धारक हैं। प्रभु की शक्तियाँ 'गन्धर्वपत्नियाँ' हैं। इन्हीं का सब प्रजाओं में प्रसार है। प्रजाओं (अप्) में प्रसृत (सर) होने से ये 'अप्सरा' कहलाती हैं। **ताभ्यः**=उन **गन्धर्वपत्नीभ्यः**=प्रभु की पत्नीरूप **अप्सराभ्यः**=प्रजाओं में विचरनेवाली शक्तियों की प्राप्ति के लिए **नमः अकरम्**=मैं नमस्कार करता हूँ। विनीत बनकर ही तो मैं इन शक्तियों को प्राप्त करने का पात्र बनूँगा। २. ये शक्तियाँ वे हैं **याः**=जोकि **क्लन्दाः**=शत्रुओं को रुलानेवाली हैं (क्लदि रोदने), **तमिषीचयः**=(तम्=to wish, to desire, षिच् क्षरणे) इच्छाओं का सेचन व पूरण करनेवाली हैं, **अक्षकामाः**=इन्द्रियों को कान्ति प्राप्त करानेवाली व **मनोमुहः**=मनों को मुग्ध करनेवाली हैं। इन शक्तियों के होने पर वह व्यक्ति सबके लिए आकर्षक होता है। उसकी सब इन्द्रियाँ तेजस्विता से युक्त होती हैं। इनके द्वारा वह इष्ट वस्तुओं को प्राप्त कर पाता है और इनके द्वारा ही वह अपने शत्रुओं को परास्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु के प्रति नमन से हमें वे दिव्य शक्तियाँ प्राप्त होती हैं जो शत्रुओं को रुलानेवाली, इच्छाओं को पूर्ण करनेवाली, इन्द्रियों को कान्ति देनेवाली व मनों को मुग्ध करनेवाली होती हैं।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इन शब्दों से हुआ है कि प्रभु की प्राप्ति ज्ञान से होती है (१)। वे प्रभु उपासित होने पर आधिदैविक आपत्तियों को दूर करनेवाले हैं (२)। प्रभु ही सब शक्तियों के आधार हैं (३)। नम्रता के द्वारा हम इन शक्तियों को प्राप्त करते हैं (४)। इन शक्तियों को प्राप्त करके शत्रुओं को पराजित करनेवाले व इन्द्रियों को दीप्त करनेवाले होते हैं (५)। इन्द्रियों को दीप्त करके अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाले हम 'अङ्गिराः' बनते हैं। यह अङ्गिरा ओषधियों के उचित प्रयोग से सब रोगों को अपने से दूर रखता है। पर्वतों से नीचे बहनेवाला जल भी उत्तम औषध है—

३. [तृतीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**(आस्त्राव)-भेषजम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पर्वतीय जल

अदो यदवधावत्यवत्कमधि पर्वतात्। तत्ते कृणोमि भेषजं सुभेषजं यथाससि॥ १ ॥

१. **अदः**=वह **यत्**=जो **अवत्कम्**=रक्षा करनेवाला जल **अधिपर्वतात्**=पर्वत पर से **अवधावति**=नीचे की ओर दौड़ता है, **तत्**=उसे **ते**=तेरे लिए **भेषजम्**=औषध **कृणोमि**=करता हूँ, **यथा**=जिससे **सुभेषजम्**=उत्तम औषधवाला **अससि**=तू हो। २. पर्वतों से बहनेवाला जल भिन्न-भिन्न प्रकार के खनिजद्रव्यों के सम्पर्क में आता हुआ सचमुच कई रोगों का औषध बन जाता है। इन जलों में वे खनिजद्रव्य सूक्ष्मरूप से समवेत होकर जलों के दोष-निवारक गुणों को बढ़ा देते हैं। जल भेषज हैं, तो उन द्रव्यों के सम्पर्क से वे सुभेषज हो जाते हैं।

भावार्थ—पर्वतों से बहकर नीचे आनेवाला जल भेषज है, भेषज ही नहीं सुभेषज है।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**(आस्त्राव)-भेषजम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अनास्त्रावम्, अरोगणम्

आदङ्ग कुविदङ्ग शतं या भेषजानि ते। तेषामसि त्वमुत्तममनास्त्रावमरोगणम्॥ २ ॥

१. **आत्**=और यह बात है कि हे **अङ्ग**=अङ्गो! **कुवित् अङ्ग**=बहुविध अङ्गो! (कुवित्=बहु—नि०) **या**=जो **ते**=आपकी **शतं भेषजानि**=सैकड़ों औषध हैं **तेषाम्**=उनमें **त्वम्**=तू, अर्थात् गतमन्त्र में वर्णित पर्वतीय जल **उत्तमम् असि**=उत्तम है, **अनास्त्रावम्**=रक्तस्राव को रोकनेवाला तथा **अरोगणम्**=रोग को दूर करनेवाला है। २. पर्वतीय जल रक्तस्राव को रोकता है और अङ्गों को नीरोग बनाता है।

भावार्थ—पर्वतीय जल रक्तस्राव को रोककर अङ्गों पर लगनेवाले घावों को दूर करता है।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**(आस्त्राव)-भेषजम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'अरुस्त्राण' औषध

नीचैः खनन्त्यसुरा अरुस्त्राणमिदं महत्। तदास्त्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत्॥ ३ ॥

१. **असुराः**=(अस्यन्ति) रोगों को दूर फेंकनेवाले वैद्य लोग **इदम्**=इस **महत्**=अत्यधिक **अरुस्त्राणम्**=(स्रै पाके) फोड़े को पकाकर मल को पृथक् करनेवाली औषध को **नीचैः**=नीचे पर्वतों की तराई के प्रदेशों में **खनन्ति**=खोदते हैं। पर्वतों से बहकर आते हुए जल से उत्पन्न हुई-हुई यह भूमिगत औषध फोड़े को पकाकर उसके मल को दूर करने की शक्ति रखती है।

२. इसप्रकार यह औषध **आस्त्रावस्य**=मल को क्षरित करने की **भेषजम्**=उत्तम औषध है। **तत् उ**=वह निश्चय से **रोगम्**=रोग को **अनीनशत्**=नष्ट कर देती है।

भावार्थ—पर्वत के निचले प्रदेशों में उत्पन्न होनेवाली यह औषध फोड़ों के मलों को क्षरित करके रोगों को शान्त करती है।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**(आस्त्राव)-भेषजम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

समुद्र की जलनीली (Moss)

उपजीका उद्भरन्ति समुद्रादधि भेषजम्। तदास्त्रावस्य भेषजं तदु रोगमशीशमत् ॥ ४ ॥

१. 'उपजीक' शब्द जलाधिष्ठातृदेवता (Water deity) के लिए प्रयुक्त होता है। जलों में कार्य करके आजीविका चलानेवाले व्यक्ति भी उपजीक हैं। ये **उपजीकाः**=जल में कार्य करके जीनेवाले लोग **समुद्राद् अधि**=समुद्र में से **भेषजम्**=औषध को **उद्भरन्ति**=ऊपर लाते हैं। समुद्र में होनेवाली यह 'जलनीली' (काई) ही वह औषध है। २. **तत्**=वह जलनीली **आस्त्रावस्य**=आस्त्राव की **भेषजम्**=उत्तम औषध है **उ**=और **तत्**=वह **रोगम्**=रोग को **अशीशमत्**=शान्त कर देती है।

भावार्थ—समुद्र में उत्पन्न होनेवाली काई कृमिनाशक होने से आस्त्राव की उत्तम औषध है।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**(आस्त्राव)-भेषजम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'पृथिवी से उद्धृत यह ओषधि'

अरुस्त्राणमिदं महत्पृथिव्या अध्युद्भृतम्। तदास्त्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥ ५ ॥

१. **इदम्**=यह **महत्**=महनीय—महत्त्वपूर्ण **अरुस्त्राणम्**=फोड़े को पकाकर मल को पृथक् करनेवाली औषध है। **पृथिव्याः**=पृथिवी से यह खोदकर निकाली गई है। **तत्**=वह औषध **आस्त्रावस्य**=मल को क्षरित करने की **भेषजम्**=औषध है, **उ तत्**=और यह **रोगम् अनीनशत्**=रोग को नष्ट करती है। २. पृथिवी को खोदकर निकाली गई यह 'अरुस्त्राण' औषध आस्त्राव के द्वारा रोग को शान्त कर देती है। यही उसका महत्त्व है। 'पृथिवी से खोदकर निकाली गई' ये शब्द इस भाव को सुव्यक्त करते हैं कि यह जितना अधिक भूगर्भ में स्थित होती है, उतनी ही अधिक गुणकारी होती है।

भावार्थ—पर्वतमूल की पृथिवी से खोदकर निकाली गई 'अरुस्त्राण' औषध फोड़े को पकाकर मल के आस्त्राव के द्वारा रोग को शान्त करनेवाली है।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**(आस्त्राव)-भेषजम्** ॥ छन्दः—**त्रिपदास्वराडुपरिष्टान्महाबृहती** ॥

जल व ओषधियाँ कल्याणकर हों

शं नो भवन्त्वप ओषधयः शिवाः।
इन्द्रस्य वज्रो अप हन्तु रक्षस आराद्विसृष्टा इषवः पतन्तु रक्षसाम् ॥ ६ ॥

१. **नः**=हमारे लिए **अपः**=जल **शं भवन्तु**=शान्ति देनेवाले हों। **ओषधयः शिवाः**=ओषधियाँ कल्याणकर हों। शरीर में जब किसी प्रकार का रोग उत्पन्न हो जाए तो जल व ओषधियों का समुचित प्रयोग हमारे लिए शान्ति व कल्याणकारक हो। २. परन्तु इससे भी अच्छा तो यह है कि **इन्द्रस्य**=इन्द्र का **वज्रः**=वज्र **रक्षसः**=राक्षसों को **अपहन्तु**=हमसे सुदूर विनष्ट करे। 'इन्द्र' शब्द जितेन्द्रिय पुरुष का वाचक है और 'वज्र' का भाव क्रियाशीलता से है। जितेन्द्रिय पुरुष की क्रियाशीलता राक्षसों को—रोगकृमियों को पनपने ही नहीं देती। रोगकृमि राक्षस हैं—अपने रमण के लिए हमारा क्षय करनेवाले हैं। इन **रक्षसाम्**=रोगकृमियों के **विसृष्टाः इषवः**=छोड़े हुए

बाण **आरात् पतन्तु**=हमसे दूर ही गिरें। इन रोगकृमियों के कारण उत्पन्न होनेवाले विविध विकार ही इनसे छोड़े गये इषु हैं। ये इषु हमसे दूर ही रहें। इन रोगकृमियों के कारण हममें विकार उत्पन्न न हों। इसके लिए आवश्यक है कि जलों व ओषधियों का प्रयोग ठीक हो।

भावार्थ—जलों व ओषधियों का प्रयोग हमारे लिए शान्ति व कल्याण देनेवाला हो। हम क्रियाशील बने रहें, जिससे विकार उत्पन्न ही न हों।

विशेष—इस सूक्त में मुख्यरूप से पर्वत से बहनेवाले जल के उत्तम औषध होने का उल्लेख है (१)। इस जल से उत्पन्न औषध फोड़े को पकाकर उसके मल के आस्राव से रोग को शान्त करनेवाली है। जलों व औषधों का ठीक प्रयोग कल्याणकर है, परन्तु क्रियाशीलता सर्वाधिक कल्याण करनेवाली है (६)।

अगले सूक्त का ऋषि 'अथर्वा'—डाँवाडोल न होनेवाला है। यह जङ्गिड़मणि के धारण से दीर्घायुत्व को प्राप्त करता है। जमति=जो हमें खा जानेवाला रोग है, उसे 'गिरति' यह निगल लेता है, इससे इसे 'जङ्गिड़' कहा है। शरीर में सर्वोत्तम धातु होने से इसे मणि का नाम दिया गया है, अतः यह 'जङ्गिड़मणि' वीर्य ही है। इसे 'अथर्वा' धारण करता है।

४. [चतुर्थं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**जङ्गिडमणिः** ॥ छन्दः—**विराट्प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

दीर्घायुत्व व रमणीयता

दीर्घायुत्वाय बृहते रणायारिष्यन्तो दक्षमाणाः सदैव।
मणिं विष्कन्धदूषणं जङ्गिडं बिभृमो वयम्॥ १॥

१. **वयम्**=हम **विष्कन्धदूषणम्**=शोषण को दूषित करनेवाली (स्कन्द् शोषणे) **जङ्गिडं मणिम्**=शरीरस्थ वीर्यशक्ति को **बिभृमः**=धारण करते हैं। **सदैव**=सदा ही **दक्षमाणाः**=वृद्धि करने की कामना करते हुए हम इस शक्ति को धारण करते हैं (हेतौ शानच्) **अरिष्यन्तः**=हिंसित न होते हुए हम इस शक्ति को धारण करते हैं। इस शक्ति के धारण से हमारी रोगादि से किसी प्रकार की हिंसा नहीं होगी और हम सभी दृष्टिकोणों से वृद्धि प्राप्त करेंगे। २. हम इस शक्ति का धारण **दीर्घायुत्वाय**=दीर्घजीवन के लिए करते हैं। '**मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्**'—इसके नाश से मृत्यु और इसके धारण से जीवन है। **बृहते रणाय**=बड़ी रमणीयता के लिए अथवा शब्दशक्ति के लिए हम इसका धारण करते हैं। इस वीर्यशक्ति के रक्षण से शरीर के स्वास्थ्य के कारण रमणीयता प्राप्त होती है और वाणी में शक्ति बनी रहती है। इसके रक्षण के अभाव में वाणी की शक्ति में भी न्यूनता आ जाती है।

भावार्थ—हम वीर्य को शरीर में ही बाँधते हैं जिससे (क) दीर्घायुष्य प्राप्त हो, (ख) शरीर में स्वास्थ्य की रमणीयता बनी रहे और शब्दशक्ति में निर्बलता न आये, (ग) हम रोगों से हिंसित न हों, (घ) हमारी शक्तियों का वर्धन हो, (ङ) शोषण से हम पीड़ित न हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**जङ्गिडमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शारीर व मानस रोगों से बचाव

जङ्गिडो जम्भाद्विशराद्विष्कन्धादभिशोचनात्।
मणिः सहस्रवीर्यः परि णः पातु विश्वतः॥ २॥

१. **जङ्गिडः**=शरीर-भक्षक रोगों को निगल जानेवाली यह वीर्यशक्ति **जम्भात्**=आलस्य के कारण आनेवाली जम्हाइयों (yawning) से, **विशरात्**=अङ्गों के टूटनेरूप (splitting) रोग से,

विष्कन्धात्=(स्कन्ध to collect) अङ्गों के गठन के टूटने से—अङ्गों की अदृढ़ता से तथा **अभिशोचनात्**=मानस शोक (depression) से **पातु**=हमें बचाये। वीर्यरक्षण से हमें आलस्य नहीं घेरता, अङ्ग-भङ्ग-सा अनुभव नहीं होता, अङ्ग सुगठित बने रहते हैं और मन में उदासी नहीं आती। २. यह **सहस्त्रवीर्यः मणिः**=अनन्त शक्तिवाली वीर्यरूप मणि **नः**=हमें **विश्वतः**=सब ओर से **परिपातु**=रक्षित करे।

भावार्थ—वीर्यरक्षण से हम शारीर व मानस—दोनों प्रकार के रोगों से ऊपर उठते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**जङ्गिडमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'विश्वभेषज' मणि

अयं विष्कन्धं सहतेऽयं बाधते अत्रिणः। अयं नो विश्वभेषजो जङ्गिडः पात्वंहसः॥ ३॥

१. **अयम्**=यह वीर्यरूप मणि **विष्कन्धम्**=अङ्गों के गठन के टूटने को **सहते**=अभिभूत करती है, अङ्गों को सुगठित बनाती है। **अयम्**=यह **अत्रिणः**=शरीर-भक्षक कृमियों को **बाधते**=पीड़ित करके दूर करती है। वीर्यरक्षण से शरीर में रोगकृमि प्रबल नहीं हो पाते। २. **अयं जङ्गिडः**=शरीर-भक्षक रोगकृमियों को नष्ट करनेवाली यह जङ्गिडमणि (वीर्यशक्ति) **विश्वभेषजः**=सब रोगों की औषध है। यह हमें **अंहसः पातु**=पापों से बचाये। वीर्यरक्षण से शरीर के ही दोष दूर नहीं होते, यह मानस दुर्भावनाओं को भी दूर करके हमें पापों से बचाता है। यह वीर्यरक्षण शरीर व मन दोनों को ही नीरोग बनाता है।

भावार्थ—यह वीर्य 'विश्वभेषज' मणि है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**जङ्गिडमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

देवों से दत्त 'मणि'

देवैर्दत्तेन मणिना जङ्गिडेन मयोभुवा। विष्कन्धं सर्वा रक्षांसि व्यायामे सहामहे॥ ४॥

१. दिव्य गुणों के पनपने से यह वीर्य शरीर में सुरक्षित रहता है, अतः कहते हैं कि इस मणि को मानो हमें देवों ने ही प्राप्त कराया है। आसुरभाव जागे और इस मणि का विनाश हुआ। **देवैः दत्तेन**=देवों से दी गई, अर्थात् दिव्य भावनाओं द्वारा शरीर में रक्षित हुई-हुई **मयोभुवा**=नीरोगतारूप कल्याण को उत्पन्न करनेवाली **जङ्गिडेन मणिना**=शरीर-भक्षक रोगों को निगल जानेवाली इस वीर्यरूप मणि से, **व्यायामे**=उचित व्यायाम (Exercise, शरीरश्रम) करके हम **विष्कन्धम्**=अङ्गों के गठन के शैथिल्यरूप रोग को तथा **सर्वा रक्षांसि**=अपने रमण के लिए हमारा क्षय करनेवाले सब रोगकृमियों को **सहामहे**=पराभूत करते हैं। २. वीर्यरक्षण के लिए व्यायाम एक प्रमुख साधन है। शारीरिक श्रम न करनेवाले के लिए इसका रक्षण सम्भव नहीं होता, अतः 'व्यायाम' के महत्त्व को भी हमें पूर्णतया समझना चाहिए। इस वीर्यरक्षण के लिए दूसरा साधन दिव्य गुणों का विकास है। अशुभ विचार वीर्यरक्षा के लिए बड़े घातक होते हैं। इसी दृष्टिकोण से इस मणि को 'देवों से दी गई' ऐसा कहा गया है। 'व्यायाम व शुभ विचार' वीर्यरक्षा के महान् साधन हैं।

भावार्थ—व्यायाम व शुभ विचारों से वीर्यरक्षण करते हुए हम सब रोगों से ऊपर उठें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**जङ्गिडमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शण और जङ्गिड

शणश्च मा जङ्गिडश्च विष्कन्धादभि रक्षताम्।
अरण्यादन्य आभृतः कृष्या अन्यो रसेभ्यः॥ ५॥

१. जङ्गिडमणि का भाव हम विस्तार से देख चुके हैं। यहाँ उसके साथ 'शण' का भी समावेश हो गया है। मन्त्र में प्रार्थना है कि **शणः च जङ्गिडः च**=शण और जङ्गिड ये दोनों मिलकर **मा**=मुझे **विष्कन्धात्**=अङ्गों से सुगठित होने के अभावरूप रोग से **अभिरक्षताम्**=रक्षित करें। इनके द्वारा मेरे अङ्ग सुगठित बने रहें। २. **अन्यः**=इनमें से एक 'शण' **अरण्यात् आभृतः**=अरण्य से अपने अन्दर धारण किया जाता है और **अन्यः**=दूसरा 'जङ्गिड' मणि **कृष्याः**=खेती से उत्पन्न अन्नादि के **रसेभ्यः**=रसों से शरीर में पुष्ट होता है। शरीर में पुष्ट होनेवाला जङ्गिडमणि है और 'शण' मन में धारण किया जाता है। यह शण=त्यागभाव है (शण=to give) जिसका पोषण 'अरण्य' से होता है। अरण्य का भाव यहाँ एकान्त प्रदेश है। एकान्त में बैठकर संसार के स्वरूप का चिन्तन करने पर मनुष्य में अवश्य ही यह त्यागवृत्ति उत्पन्न होती है। यह त्यागवृत्ति मन को उसी प्रकार स्वस्थ बनाती है जैसेकि वीर्यशक्ति शरीर को। एवं, शण व जङ्गिड एक-दूसरे के सहायक होते हैं। शरीररक्षण के लिए मानस स्वास्थ्य भी अत्यन्त आवश्यक है।

भावार्थ—त्यागवृत्ति व वीर्यरक्षण हमें सब विघटनों से बचाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**जङ्गिडमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कृत्या व अराति-दूषण

कृत्यादूषिरयं मणिरथो अरातिदूषिः।
अथो सहस्वान् जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत्॥ ६ ॥

१. 'कृञ् हिंसायाम्' धातु से 'कृत्या' शब्द बनता है (कृणोति= Kill)। **अयं मणिः**=यह वीर्यरूप जङ्गिड मणि **कृत्यादूषिः**=हिंसा को दूषित=दूर करनेवाली है। इसके शरीर में धारण से शरीर रोगों से हिंसित नहीं होता। २. **अथ उ**=और निश्चय से यह मणि **अरातिदूषिः**=शत्रुभूत रोगों को दूर करनेवाली है। 'अराति' का ठीक अर्थ 'न देना' है। गतमन्त्र में वर्णित 'शण' मणि अराति को दूषित करनेवाली—अत्यागवृत्ति को नष्ट करनेवाली है। ३. **अथ उ**=और निश्चय से **जङ्गिडः**=वीर्यरूप मणि **सहस्वान्**=सब रोगों को पराभूत करनेवाली है। रोगों को दूर करके यह **नः**=हमारी **आयूंषि**=आयुओं को **प्रतारिषत्**=खूब दीर्घ करे।

भावार्थ—वीर्यरक्षण से हम रोगकृमियों द्वारा होनेवाली हिंसा से बचते हैं और अत्याग की वृत्ति से ऊपर उठते हैं। यह वीर्यमणि हमारे जीवन को दीर्घ करती है।

विशेष—यह सूक्त वीर्यरक्षण के महत्त्व को बड़ी सुन्दरता से व्यक्त करता है। अगले सूक्त में इस वीर्यरक्षक 'इन्द्र' का चित्रण है। यह तपस्वी बनकर वीर्यरक्षा करता है, अतः भृगु है और चित्तवृत्ति को डाँवाडोल नहीं होने देता, इसलिए 'आथर्वण' है। इसे प्रभु उपदेश देते हैं—

५. [पञ्चमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुराथर्वणः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृदुपरिष्टाद्बृहती** ॥

सोमरक्षण के उपाय व लाभ

इन्द्र जुषस्व प्र वहा याहि शूर हरिभ्याम्।
पिबा सुतस्य मतेरिह मधोश्चकानश्चारुर्मदाय॥ १ ॥

१. **इन्द्र**=हे जितेन्द्रिय पुरुष! (क) **जुषस्व**=तू प्रीतिपूर्वक प्रभु का उपासन कर और (ख) **प्रवह**=अपने कर्त्तव्यभार का वहन कर (ग) **शूरः**=कामादि शत्रुओं का हिंसन करनेवाला तू **हरिभ्याम्**=ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों के साथ **याहि**=मार्ग पर आगे बढ़। २. इन उपायों से तू **इह**=इस शरीर में **सुतस्य**=उत्पन्न किये गये सोम का, जो सुरक्षित होने पर **मतेः**=

बुद्धि का वर्धन करनेवाला है और **मधोः** स्वभाव को मधुर बनानेवाला है, **पिब**-पान कर—इसे शरीर में ही सुरक्षित कर। सोमपान के द्वारा तू **चकानः**=ज्ञान से दीप्त बनता है और **चारुः**=सशक्तता से यज्ञादि कर्मों में चरणशील बनता है तथा तेरा जीवन मद व हर्ष के लिए होता है। **चकानः**-(कम् to wish) इसकी रक्षा की तू कामनावाला बन, **चारुः**-इसका अपने अन्दर ही चरण (भक्षण) करनेवाला हो, **मदाय**=शरीर में सुरक्षित हुआ यह सोम तेरे हर्ष के लिए होगा।

भावार्थ—सोमरक्षण के तीन साधन हैं—(क) प्रभु की उपासना, (ख) कर्त्तव्यभार वहन, (ग) कर्मों में लगे रहना। सुरक्षित हुए सोम के तीन लाभ हैं—(क) बुद्धि-वर्धन, (ख) स्वभाव-माधुर्य, (ग) उल्लास।

ऋषिः—**भृगुराथर्वणः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराडुपरिष्टाद्बृहती** ॥

प्रकाश, उल्लास, शुभ शब्द

इन्द्र॑ ज॒ठरं॑ न॒व्यो न पृ॒णस्व॒ मधो॑र्दि॒वो न।
अ॒स्य सु॒तस्य॒ स्व१॒॑र्णोप॑ त्वा॒ मदाः॑ सु॒वाचो॑ अगुः॥ २॥

१. हे **इन्द्र**-जितेन्द्रिय पुरुष! **नव्यो न**=(नवनं नवः तत्र साधु) स्तुति में उत्तम पुरुष के समान तू **जठरम्**-अपने जठर को—अन्दर के भाग को (Interior of any thing) **मधोः**=इस भोजन के सारभूत सोम से **पृणस्व**-तृप्त कर। २. **दिवः न**-प्रकाश के समान—जैसे कोई व्यक्ति ज्ञानज्योति से अपने को पूरित करता है, उसी प्रकार तू **अस्य सुतस्य**-इस उत्पन्न हुए सोम का पान करनेवाला बन। शरीर में खपाया हुआ यह सोम तेरे जीवन को जहाँ मधुर (मधोः) बनाएगा, वहाँ यह उसे (दिवः) प्रकाशमय बनानेवाला भी होगा। ३. इस सोम का रक्षण होने पर **त्वा**-तुझे **स्वः न** स्वर्गलोक की भाँति **मदाः**-उल्लास तथा **सुवाचः**-उत्तम वाणियाँ **उपअगुः**-समीपता से प्राप्त होंगी। स्वर्गलोक में सभी का जीवन उल्लासमय होता है। वहाँ अशुभ शब्दों का प्रयोग नहीं होता। सोम का रक्षण करनेवाला भी उल्लासमय व शुभवक्ता होता है। देवता भी तो सोमपान करने से ही ऐसे बने हैं।

भावार्थ—प्रभुस्तवन करते हुए हम सोमपान करेंगे तो हमारा जीवन प्रकाशमय, उल्लासयुक्त और शुभ शब्दों का प्रकाशक होगा।

ऋषिः—**भृगुराथर्वणः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्पथ्याबृहती** ॥

'वृत्र व वल' का विनाश

इन्द्र॑स्तु॒रा॒षाण्मि॒त्रो वृ॒त्रं यो ज॒घान॑ य॒तीर्न।
बि॒भेद॑ व॒लं भृ॒गुर्न स॑सहे॒ शत्रू॒न्मदे॒ सोम॑स्य॥ ३॥

१. **इन्द्रः**-जितेन्द्रिय पुरुष **सोमस्य मदे**-सोम के मद में—सोमरक्षण से उत्पन्न उल्लास में **शत्रून् ससहे**-कामादि शत्रुओं का पराभव करता है, **तुराषाट्**-त्वरा से शत्रुओं का पराभव करनेवाला होता है। शत्रुओं के पराभव के द्वारा **मित्रः**=अपने को रोगों से बचाता है। २. इन्द्र वह है जो **यतीः न**=यतियों के समान **वृत्रं जघान**-वासना का संहार करता है और **भृगुः न**-तपस्या की अग्नि में अपने को परिपक्व करनेवाले के समान **वलं बिभेद** वलासुर को विदीर्ण करता है। 'वल' वह आसुरी वृत्ति है जो शान्ति पर पर्दा सा (Veil) डाल देती है। यह ईर्ष्या द्वेष की वृत्ति है। इन्द्र **वृत्र**-कामवासना व **वल**-ईर्ष्या-द्वेष दोनों से ही ऊपर उठता है।

भावार्थ—इन्द्र सोम का शरीर में ही रक्षण करता है और काम व ईर्ष्या आदि आसुर

भावनाओं को पराभूत करता है।

ऋषिः—**भृगुराथर्वणः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगतीपुरोविराट्त्रिष्टुप्** ॥

आत्मशासन व संग्राम-विजय

आ त्वा विशन्तु सुतास इन्द्र पृणस्व कुक्षी विड्ढि शक्र धियेह्या नः।
श्रुधी हवं गिरो मे जुषस्वेन्द्र स्वयुग्भिर्मत्स्वेह महे रणाय॥ ४॥

१. हे **इन्द्रः**-जितेन्द्रिय पुरुष **सुतासः**-ये उत्पन्न हुए सोमकण **त्वा आविशन्तु**-तुझमें प्रवेश करें। **कुक्षी पृणस्व**-तू अपनी दोनों कोखों को इनसे प्रीणित करनेवाला हो। **विड्ढि**-(विध शासने) तू अपने पर शासन करनेवाला बन। प्रभु कहते हैं कि **शक्र**-सोमपान के द्वारा शक्तिशाली बने हुए इन्द्र! तू सोमपान के द्वारा तीव्र बनी हुई **धिया**-बुद्धि से **नः आयाहि**=हमारे समीप प्राप्त हो। **हवं श्रुधी**=हृदयस्थ मेरी वाणी को सुन। **मे गिरः**=मेरी वेदज्ञानरूपी वाणियों को **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन कर और **इह**=इसी जीवन में **महे रणाय**=महान् संग्राम के लिए—काम-क्रोधादि शत्रुओं को पराजित करने के लिए **स्वयुग्भिः**=आत्मतत्त्व से मेलवाली इन इन्द्रियों से **मत्स्व**=आनन्द का अनुभव कर। इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटाकर अन्तर्मुख करने पर ही इन संग्रामों में विजय सम्भव होती है।

भावार्थ—हम सोम का रक्षण करें। हृदयस्थ प्रभु की वाणी को सुनें। इन्द्रियों को निरुद्ध करने का प्रयत्न करें। कामादि के साथ होनेवाले महान् संग्राम में पराजित न हों।

ऋषिः—**भृगुराथर्वणः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

इन्द्र के उत्कृष्ट कार्य

इन्द्रस्य नु प्रा वोचं वीर्या∫णि यानि चकार प्रथमानि वज्री।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत्पर्वतानाम्॥ ५॥

१. **नु**-अब **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **वीर्याणि**-शक्तिशाली कर्मों को **प्रावोचम्**-प्रकर्षेण कहता हूँ, **यानि**-जिन **प्रथमानि**-विस्तारवाले कर्मों को **वज्री**-क्रियाशील पुरुष **चकार**-करता है। इन्द्रियों को वश में रखनेवाला ही इन्द्र है। यह सोम=वीर्य का रक्षण करता है—यही इसका सोमपान है। इससे इसके सब अङ्ग सबल बनते हैं। इसका हृदय विशाल होता है। इसप्रकार इस इन्द्र के कार्य शक्तिशाली व विशालता को लिये हुए होते हैं। २. इसका सर्वमहान् कार्य तो यह है कि **अहिम् अहन्**=(आहन्ति इति) चारों ओर से आक्रमण करनेवाली वासना को नष्ट करता है और **अनु**=इस वासना को नष्ट करने के ही अनुपात में **अपः**-शरीरस्थ रेतःकणों को **ततर्द**=(set free) वासना-जनित उष्णता से मुक्त करता है—सदा शान्त सोमवाला बनता है। इसप्रकार यह इन्द्र **पर्वतानाम्**=पाँच पर्वोंवाली (अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः) अविद्याओं के **वक्षणाः**=प्रवाहों (rivers) को **प्र-अभिनत्**=नष्ट कर डालता है। जितेन्द्रियता से वासना नष्ट होती है, शरीरस्थ रेतःकण वासनामुक्त होते हैं और अविद्या के प्रवाह नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष शक्तिशाली व विशालतायुक्त कार्यों को करता है। वह वासना को नष्ट करके सोम का रक्षण करता है और उससे दीप्त ज्ञानाग्निवाला बनकर अविद्या के प्रवाहों को समाप्त कर देता है।

ऋषिः—**भृगुराथर्वणः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

समुद्र-गमन

अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष।
वाश्राइव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः॥ ६॥

१. गतमन्त्र में वर्णित इन्द्र **पर्वते शिश्रियाणम्**-अविद्या-पर्वत में निवास करनेवाली **अहिम्** समन्तात् विनाश करनेवाली वासना को **अहन्**-नष्ट करता है। **त्वष्टा** ज्ञानदीप्त प्रभु **अस्मै** इस इन्द्र के लिए **स्वर्यम्**-उत्तम प्रकाशवाली **वज्रम्**=क्रियाशीलता को **ततक्ष**-बनाता है, अर्थात् यह इन्द्र गतिशील होता है और इसकी गतिशीलता प्रकाशमय होती है—इसके सब कर्म ज्ञानपूर्वक होते हैं। इन कर्मों में सतत लगे रहने से ही यह वासना को विनष्ट कर पाता है। २. इस वासना के विनष्ट होने पर **धेनवः**=ज्ञान-दुग्ध देनेवाली वेदवाणीरूप गौएँ **वाश्राः इव**-शब्द करती हुई—कर्त्तव्य का ज्ञान देती हुई **स्यन्दमानाः**-इसकी ओर गतिवाली होती हैं। इन वेदवाणियों से कर्त्तव्य का ज्ञान प्राप्त करके **आपः**-ये क्रियाशील प्रजाएँ **अञ्जः**-साक्षात् **समुद्रम्**-(स मुद्) आनन्दमय प्रभु की ओर **अवजग्मुः**-गतिशील होती हैं, अर्थात् ये प्रजाएँ प्रभु को प्राप्त होती हैं।

भावार्थ—इन्द्र अविद्यामूलक वासना को नष्ट करता है। प्रभु इसे प्रकाशमय क्रियाशीलता प्राप्त कराते हैं। इसे वेदवाणी प्राप्त होती है। उसके अनुसार कर्म करता हुआ यह इन्द्र आनन्दमय प्रभु को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**भृगुराथर्वणः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सायक 'वज्र'

वृषायमाणो अवृणीत सोमं त्रिकद्रुकेष्वपिबत्सुतस्य।
आ सायकं मघवादत्त वज्रमहन्नेनं प्रथमजामहीनाम्॥ ७॥

१. **वृषायमाणः**-शक्तिशाली की भाँति आचरण करता हुआ इन्द्र **सोमं अवृणीत**=सोम का वरण करता है। शरीर में सोम के रक्षण से ही वह शक्तिशाली बनता है। शक्तिशाली बनने के लिए यह **सुतस्य**=शरीर में उत्पन्न हुए सोम का **त्रिकद्रुकेषु**-(कदि आह्वाने) तीनों आह्वान कालों में—तीनों प्रार्थना समयों में अथवा जीवन यज्ञ के तीन सवनों में **अपिबत्** पान करता है। प्रथम चौबीस वर्षों के प्रातःसवन में, अगले चवालीस वर्षों के माध्यन्दिन सवन में, अन्तिम अड़तालीस वर्षों के सायन्तनसवन में यह इस सोम-पान का ध्यान रखता है। वीर्य का रक्षण ही इसका सोमपान है। सामान्य भाषा में यह बाल्य, यौवन और वार्धक्य—इन तीन कालों में वीर्यरक्षण का ध्यान करता है। २. **मघवा**-सोम रक्षण से शक्तिशाली बना हुआ ज्ञानैश्वर्यशाली यह इन्द्र **सायकम्** कामादि शत्रुओं का अन्त करनेवाले **वज्रम्** क्रियाशीलतारूप वज्र को **आ अदत्त** हाथ में ग्रहण करता है और **एनम्**-इस **अहीनाम्**-नाशक वासनाओं के **प्रथमजाम्**-प्रथम स्थान में होनेवाली इस कामवासना को **अहन्**-नष्ट कर डालता है। कामवासना ही सर्वमुख्य शत्रु है। क्रियाशीलता से इसका विनाश होता है। क्रिया में लगा हुआ पुरुष इसका शिकार नहीं होता। यही इन्द्र के द्वारा वृत्र का विनाश है।

भावार्थ—सोमरक्षण से ही शक्ति प्राप्त होती है। हमें जीवन यज्ञ के तीनों सवनों में इस सोम का पान (रक्षण) करना है। इसके लिए आवश्यक है कि सदा क्रिया में लगे रहकर हम वासना को नष्ट कर डालें।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त में सोम के रक्षण के उपायों तथा लाभों का प्रतिपादन हुआ है। इस

सोम का रक्षण करनेवाला ही राष्ट्र का अधिपति बनकर राष्ट्र का सब प्रकार से रक्षण करता है। यह गतिशील होने से 'शौनक' कहलाता है।

६. [षष्ठं सूक्तम्]

ऋषिः—**शौनकः (सम्पत्कामः)**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ज्ञानप्रसार

समास्त्वाग्न ऋतवो वर्धयन्तु संवत्सरा ऋषयो यानि सत्या।

सं दिव्येन दीदिहि रोचनेन विश्वा आ भाहि प्रदिशश्चतस्रः॥ १॥

हे **अग्ने**-राष्ट्र की उन्नति के कारणभूत राजन्! **त्वा**-तुझे **समाः**=सुख-दुःख में समवृत्ति से रहनेवाले **ऋतवः**-बड़ी नियमित गतिवाले (ऋ गतौ), ऋतुओं के अनुसार नियमित चाल से चलनेवाले, **संवत्सराः**=उत्तम निवासवाले **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा लोग **वर्धयन्तु**=बढ़ानेवाले हों। इन ऋषियों से दिये गये **यानि**=जो **सत्या**=सत्यज्ञान हैं, वे तेरा वर्धन करें। २. तू स्वयं तो इन ऋषियों से सत्यज्ञान प्राप्त करके **दिव्येन रोचनेन**=दिव्यप्रकाश से **दीदिहि**-प्रकाशित हो—चमकनेवाला बन और राष्ट्र में भी सर्वत्र शिक्षणालयों की व्यवस्था के द्वारा ज्ञान का प्रसार करते हुए **विश्वाः**-सब **चतस्रःप्रदिशः**-चारों प्रकृष्ट दिशाओं को **आभाहि**=पूर्णरूप से दीप्त करनेवाला हो। राजा का प्रथम कर्त्तव्य यही है कि राष्ट्र में ज्ञान का प्रसार करे, इसके राष्ट्र में कोई अविद्वान् न हो।

भावार्थ—राजा के पुरोहित 'समवृत्ति के, नियमित गतिवाले व उत्तम जीवनवाले' हों। इनसे राजा को दिव्य दीप्ति प्राप्त हो। राजा राष्ट्र में सर्वत्र ज्ञान-प्रसार की व्यवस्था करे।

ऋषिः—**शौनकः (सम्पत्कामः)**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

राष्ट्र-सौभाग्य-वर्धन

सं चेध्यस्वाग्ने प्र च वर्धयेममुच्च तिष्ठ महते सौभगाय।

मा ते रिषन्नुपसत्तारो अग्ने ब्रह्माणस्ते यशसः सन्तु मान्ये॥ २॥

१. हे **अग्ने**=राजन् ! तू स्वयं **च**=भी **सम् इध्यस्व**=समिद्ध हो, दीप्त हो, ज्ञान की दीप्ति से चमकनेवाला बन, **च**=और **इमम्**-अपने इस प्रजाजन को भी **प्रवर्धय**=प्रकर्षेण बढ़ानेवाला हो। **च**=और तू **महते सौभगाय**=महान् सौभाग्य के लिए **उत्तिष्ठ**=उन्नत स्थिति में स्थित हो। राजा का निजू जीवन जितना ऊँचा होता है, उतना ही वह राष्ट्र के सौभाग्य का वर्धन करनेवाला होता है। राजा को देखकर ही प्रजाजन का जीवन बनता है—'यथा राजा तथा प्रजा'। हे राजन्! **ते उपसत्तारः**=तेरे समीप उठने-बैठनेवाले लोग **मा रिषन्**=हिंसित न हों। सबका रक्षण तेरा धर्म है। इसके साथ यह भी आवश्यक है कि हे **अग्ने**=राष्ट्र के अग्रणी राजन्! **यशसः ब्रह्माणः**=यशस्वी ज्ञानी पुरुष ही **ते**-तेरे (उपसत्तारः सन्तु)समीप उठने-बैठनेवाले हों। इन्हीं का सङ्ग व परामर्श तुझे प्राप्त हो, **मा अन्ये**=इनसे भिन्न केवल स्वार्थी, खुशामदी व्यक्तियों से तू न घिरा रहे।

भावार्थ—राष्ट्रोन्नति राजा का धर्म है। राजा का निजू जीवन उत्तम हो उसे यशस्वी ज्ञानी पुरुषों का ही सत्सङ्ग व परामर्श प्राप्त हो, खुशामदी और स्वार्थी पुरुष इसे न घेरे रहें।

ऋषिः—**शौनकः (सम्पत्कामः)**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सदा जागरित=जागृवि

त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणा इमे शिवो अग्ने संवरणे भवा नः।

सपत्नहाग्ने अभिमातिजिद्भव स्वे गये जागृह्यप्रयुच्छन्॥ ३॥

१. हे **अग्ने**-अग्रणी राजन्! **इमे ब्राह्मणाः** ये ज्ञानी पुरुष **त्वां वृणते** तेरा वरण करते हैं और वे चाहते हैं कि हे **अग्ने**-राजन्! **नः संवरणे**-हमसे संवृत्त (घिरा) हुआ तू **शिवः भव**-कल्याण स्वभाववाला तथा राष्ट्र का कल्याण करनेवाला हो। ज्ञानी ब्राह्मणों की शुभ मति में चलता हुआ राजा उत्तम जीवनवाला व राष्ट्र का कल्याण करनेवाला होगा ही। २. हे **अग्ने**-राजन्! तू **सपत्नहा**-शत्रुओं का हनन करनेवाला—शरीर का पति-स्वामी बनने की कामनावाला हो, रोग सपत्न हैं, उन्हें नष्ट करनेवाला हो, **अभिमातिजित्**-मन में उत्पन्न हो जानेवाले अभिमान को भी तू जीतनेवाला **भव**-हो। ३. **स्वे गये**-अपने राष्ट्ररूप गृह में **अप्रयुच्छन्** किसी प्रकार का प्रमाद न करता हुआ तू **जागृहि**=सदा जागनेवाला हो। राजा शरीर में नीरोग तथा मन में निरभिमान बनकर राष्ट्ररूप घर के रक्षण में सदा अप्रमत्त रूप से जागरित हो।

भावार्थ—ज्ञानी ब्राह्मणों से संवृत्त राजा नीरोग व निरभिमान बनकर राष्ट्र का उत्तम रक्षण करता है।

ऋषिः—**शौनकः (सम्पत्कामः)** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदाऽऽर्षीपङ्क्तिः** ॥

राष्ट्र-रक्षण

क्षत्रेणाग्ने स्वेन सं रभस्व मित्रेणाग्ने मित्रधा यतस्व।
सजातानां मध्यमेष्ठा राज्ञामग्ने विहव्यो दीदिहीह॥ ४॥

१. हे **अग्ने**-सेना का संचालन करनेवाले राजन्! **स्वेन क्षत्रेण**=अपने राष्ट्र रक्षक क्षत्रीय वर्ग के साथ **सं रभस्व**-तू राष्ट्र-रक्षण के लिए सम्यक् उद्योगवाला हो। **मित्रधाः**-अपने मित्रों का धारण करनेवाला तू हे **अग्ने**-राजन्! **मित्रेण यतस्व** अपने मित्रों के साथ मिलकर राष्ट्र रक्षण के लिए यत्नशील हो। कई बार प्रबल शत्रु से राष्ट्र रक्षण के प्रसंग में मित्रों की सहायता लेनी आवश्यक ही होती है। २. **सजातानाम्**-साथ ही विकास करनेवाले, समान आयुष्यवाले **राज्ञाम्** राजाओं में तू **मध्यमेष्ठाः**=मध्य में स्थित होनेवाला हो, अर्थात् यदि कभी ऐसे दो राजाओं में कुछ संघर्ष पैदा हो जाए तो तू उनका झगड़ा निबटानेवाला बन। हे **अग्ने**-राजन्! तू **विहव्यः**-विशेषरूप से पुकारने योग्य होता हुआ **इह** इस राष्ट्र में **दीदिहि**-चमकनेवाला हो। राजा की प्रतिष्ठा में राष्ट्र प्रतिष्ठित होता है। राजा की उन्नति से राष्ट्र की उन्नति आंकी जाती है।

भावार्थ—सेना के उत्तम संचालन से राजा राष्ट्र की रक्षा करे। समान राजाओं में यह मध्यस्थता करने की योग्यतावाला हो। इसके कारण राष्ट्र की कीर्ति बढ़े।

ऋषिः—**शौनकः (सम्पत्कामः)** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

सबलता व सम्पन्नता

अति निहो अति स्रिधोऽत्यचित्तीरति द्विषः।
विश्वा ह्यग्ने दुरिता तर त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः॥ ५॥

१. हे **अग्ने**-राजन्! तू राष्ट्र में **निहः**-(निहन्ति इति) औरों का वध करनेवालों को **अति (तर)**-लाँघनेवाला हो। उन्हें उचित दण्ड आदि देकर राष्ट्र में इन वध के अपराधों को समाप्त करनेवाला हो। **स्रिधः**-(कुत्सित कर्मणि) अन्य कुत्सित कर्म करनेवालों को तू **अति (तर)** समाप्त कर। **अचित्तीः** अज्ञानियों को **अति (तर)**-ज्ञान प्रसार के द्वारा समाप्त करनेवाला हो। **द्विषः**-सब द्वेष करनेवालों को **अति (तर)**-तू दूर कर। ठीक बात तो यह है कि **हि**-निश्चय से **विश्वा दुरिता तर**-सब बुराइयों को तू राष्ट्र से दूर करनेवाला हो। २. इसप्रकार राष्ट्र के अपराधों व अशुभ वृत्तियों को दूर करके **त्वम्**-तू **अथ**-अब **अस्मभ्यम्**-हमारे लिए **सहवीरम्**-वीरता के

साथ **रयिम्**-धन **दाः**=दे। राजा का यह भी कर्त्तव्य है कि वह राष्ट्र में ऐसी व्यवस्था करे कि उसके राष्ट्र में सब वीर तथा सम्पन्न हो। निर्बलता व निर्धनता को दूर करना भी राजा का आवश्यक कर्त्तव्य है।

भावार्थ—राजा राष्ट्र से बुराइयों का उन्मूलन करके सबको सबल व सम्पन्न बनाए।

विशेष—सूक्त में कहा है—राजा राष्ट्र में सर्वत्र ज्ञान का प्रसार करे (१)। वह राष्ट्र के सौभाग्य का वर्धन करनेवाला हो (२)। राष्ट्ररक्षण में सदा जागरित रहे (३)। राष्ट्र को शत्रुओं से आक्रान्त न होने दे (४)। राष्ट्र में सभी को सबल व सम्पन्न बनाए (५)।

अगले सूक्त में द्वेष के कारणभूत आक्रोश को दूर करने का सन्देश है। सब आक्रोशों से ऊपर उठनेवाला यह मन पूर्ण प्रभुत्ववाला 'अथर्वा' (डाँवाडोल न होनेवाला) बनता है और प्रार्थना करता है कि—

७. [सप्तमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (दूर्वा)**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

'शपथयोपनी' वीरुत्

अघद्विष्टा देवजाता वीरुच्छपथयोपनी।
आपो मलमिव प्राणैक्षीत्सर्वान्मच्छपथाँ अधि॥ १॥

१. सामान्यतः वानस्पतिक भोजन सौम्यता को उत्पन्न करनेवाला व मांस-भोजन क्रूरवृत्ति को उत्पन्न करनेवाला है। वानस्पतिक भोजन में भी सात्त्विक, राजस् व तामस् भेद से भिन्नता है ही। इनमें वनस्पतियों के फल-मूल का संकेत करने के लिए यहाँ 'वीरुत्' शब्द का प्रयोग किया गया है। यह एक लता विशेष है जो काटने पर और अधिक फैलती है (A plant which grows after being cut)। यह **अघद्विष्टा**=पाप से अप्रीति करनेवाली है। इसके प्रयोग से अन्तःकरण शुद्ध वृत्तिवाला बनता है। उसमें पाप की रुचि नहीं होती, **देवजाता**=(देवानां जातं यस्याः) दिव्य गुणों का यह विकास करनेवाली है। **वीरुत्**=यह लता **शपथयोपनी**=आक्रोशों को दूर करनेवाली है। २. यह **मत्**=मुझसे **सर्वान् शपथान्**=सब आक्रोशों को **अधि**=अधिक्येन **प्र अनैक्षीत्** ऐसे धो डालती है **इव**=जैसेकि **आपः**-जल **मलम्**=मलों को धो डालता है।

भावार्थ—लताओं के फूल-फल का प्रयोग करने से हममें आक्रोश की वृत्ति उत्पन्न नहीं होती।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (दूर्वा)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

तीन शाप

यश्च सापत्नः शपथो जाम्याः शपथश्च यः।
ब्रह्मा यन्मन्युतः शपात्सर्वं तन्नो अधस्पदम्॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार मैं तो शपथ आदि की भाषा का प्रयोग करूँ ही नहीं **च**-और **यः सापत्नः शपथः**=जो शत्रुओं से दिया गया शाप है **यः च**-और जो **जाम्याः**=किसी भी कुलीन स्त्री व बहिन आदि से दिया गया **शपथः**=शाप है या कभी **यत्**=जो **ब्रह्मा**=कोई ज्ञानी पुरुष **मन्युतः**-हमारी ग़लती पर क्षणिक क्रोधावेश से **शपात्**=शाप देता है, **तत् सर्वम्**=वह सब **नः अधस्पदम्**-हमारे पाँवों के तले हो, वह हमारे पाँव से कुचला जाए। इसका हमपर कोई प्रभाव न हो। हम इसके कारण उत्तेजित न हो उठे। २.शत्रुओं को दिये गये शाप को हम स्वाभाविक ही समझें। जब वह हमारा शत्रु है, तो अशुभ कहेगा ही। स्त्री किसी कारण से क्रुद्ध हो कुछ कह बैठती है तो वह भी सहना ही चाहिए। ब्रह्मा ने जो कुछ कठोर कह दिया तो आत्मनिरीक्षण

करते हुए अपनी कमी को देखने और उसे दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। क्रोध में आकर उत्तर देना तो ठीक है ही नहीं, ऐसी वृत्ति बनाने के लिए वीरुत् का प्रयोग साधन बनता है।

भावार्थ—हम अपशब्दों का उत्तर अपशब्दों में न दें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (दूर्वा)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'सहस्त्रकाण्ड' वीरुत्

दिवो मूलमवततं पृथिव्या अध्युत्ततम्। तेन सहस्त्रकाण्डेन परि णः पाहि विश्वतः॥ ३॥

१. प्रस्तुत 'वीरुत्' का **मूलम्** मूल **दिवः अवततम्**-आकाश से नीचे की ओर आता है और **पृथिव्याः अधि उत्ततम्**-पृथिवी से ऊपर फैलता है। इसप्रकार यह वीरुत् शतशः तनों-(काण्डों) वाली हो जाती है। ऊपर की शाखाएँ ही नीचे आकर भूमि में मूल का रूप धारण कर लेती हैं और उन मूलों पर से फिर शाखाएँ फूट निकलती है। इसप्रकार यह वीरुत् फैलती चली जाती है। दूर्वा का स्वरूप ऐसा ही है। यह दूर्वा पवित्र भी कहलाती है। यह यज्ञिय तो है ही। यज्ञवेदि को इससे आस्तीर्ण करते हैं। २. तेन **सहस्त्रकाण्डेन** उस सहस्त्रों काण्डोंवाली वीरुत् से **नः**-हमें **विश्वतः**-सब ओर से **परिपाहि**-रक्षित कीजिए। इसके प्रयोग से हम शान्तवृत्ति के बन सकते हैं।

भावार्थ—सहस्त्रकाण्ड वीरुत् का प्रयोग हमें क्रोध की वृत्ति से ऊपर उठाए।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (दूर्वा)**॥ छन्दः—**विराडुपरिष्टाद्बृहती**॥

अराति व अभिमाति से ऊपर

परि मां परि मे प्रजां परि णः पाहि यद्धनम्।
अरातिर्नो मा तारीन्मा नस्तारिषुरभिमातयः॥ ४॥

१. यज्ञीय वीरुत् का प्रयोग करनेवाले **माम्**-मुझे **परि (पाहि)**-रक्षित कीजिए। **मे प्रजाम्**-मेरी प्रजा को **परि (पाहि)** रक्षित कीजिए **नः यत् धनम्**=हमारा जो ज्ञान और शान्तिरूप धन है, उसे **परि पाहि**-सर्वथा रक्षित कीजिए। २. ज्ञान व शान्ति के अपनानेवाले **नः**-हम लोगों को **अरातिः**-शत्रु **मा तारीत्**-पराभूत न करे तथा **अभिमातयः**-अभिमान की वृतियाँ **नः**-हमें **मा तारिषुः**-अभिभूत करनेवाली न हों। हम अराति व अभिमाति से ऊपर उठकर चलें। **अरातिः**-न देने की वृत्ति—कृपणता और अभिमान हमें वशीभूत न कर लें।

भावार्थ—हम सात्त्विक आहार से शुद्ध सत्त्व बनकर अ-दान व अभिमान से ऊपर उठें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (दूर्वा)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सुहार्त् न कि दुर्हार्त्

शप्तारमेतु शपथो यः सुहार्त्तेन नः सहः। चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणीमसि॥ ५॥

१. अभिमान के कारण मुनष्य प्रायः क्रोध में आ जाता है। कृपणता भी मनुष्य के हृदय को मलिन करती है। अभिमान व कृपणता से ऊपर उठकर हम शुभ हृदयवाले बनें। क्रोध में आकर शाप वचन बोलनेवालों को शाप में उत्तर न दें। **शपथः**-उस क्रुद्ध पुरुष से बोला गया दुर्वचन **शप्तारम्**-आक्रोशक के पास ही **एतु** लौट जाए। यः **सुहार्त्** जो शुभ हृदयवाला है **तेन नः सह**-उससे हमारा साथ हों। वस्तुतः शाप का उत्तर शाप में न देते हुए हम उस शाप देनेवाले के हृदय को भी बदलने में समर्थ हों। वह भी सारी कटुता को छोड़कर, शुभ हृदयवाला बनकर हमारे समीप प्राप्त हो। २. **चक्षुर्मन्त्रस्य**-आँख से कुटिल मन्त्रणा करनेवाले **दुर्हार्दः**-दुष्ट हृदयवाले पुरुष के **पृष्टीः अपि**=पसिलियों को भी हम **शृणीमसि**-शीर्ण कर दें। शान्ति की विचारधारा

में 'पसलियों को भी तोड़ दें'। इन शब्दों का प्रयोग विचित्र-सा लगता है, 'परन्तु शान्ति का भाव निर्बलता नहीं है' इसके स्पष्टीकरण के लिए यह आवश्यक ही है। विवशता में बल-प्रयोग आवश्यक हो जाता है, कटु शब्दों का प्रयोग आवश्यक नहीं है। मधुरता और निर्बलता पर्यायवाची नहीं है।

भावार्थ—हम क्रोध में अपशब्दों का उत्तर अपशब्दों में न दें। हम दुर्हाद् पुरुष का पराभव करनेवाले हों।

विशेष—इस सूक्त में हृदय को उत्तम बनाकर गाली का उत्तर गाली में न देने का विधान है। शान्त रहने का प्रयत्न ही ठीक है। शान्ति में ही वास्तविक शक्ति है।

अब यह 'अथर्वा' अपना ठीक से परिपाक करता हुआ भृगु बनता है (भ्रस्ज पाके)। अपना ठीक परिपाक करता हुआ 'आङ्गिरस' होता है। इसका एक-एक अंग रसमय होता है। यह शरीर को एकदम नीरोग बनाने में समर्थ होता है। इसकी आराधना निम्न प्रकार से है—

८. [अष्टमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**क्षेत्रिय-(यक्ष्मकुष्ठादि)-नाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सूर्य व चन्द्र

उदगातां भगवती विचृतौ नाम तारके। वि क्षैत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम्॥ १ ॥

१. **भगवती**=प्रकाश व ज्योत्स्नारूप ऐश्वर्यवाले; **विचृतौ**=रोगों का हिंसन करनेवाले **नाम**=प्रसिद्ध **तारके**-सूर्य और चन्द्र जो रोगों को तारनेवाले हैं, वे **उद् आगाताम्**=उदित हुए हैं। ये सूर्य और चन्द्र **क्षेत्रियस्य**=सामान्यतः परक्षेत्र में चिकित्स्य=(पुत्र पौत्रादि के शरीर में चिकित्स्य) रोग के **अधमम्**=अधरकाय में आश्रित और **उत्तमम्**-ऊर्ध्वकाय में आश्रित **पाशम्**=पाश को **विमुञ्चताम्**-छुड़वा दें। सूर्य-चन्द्र की किरणों में सचमुच इसप्रकार की शक्ति है कि वे क्षेत्रिय रोगों को दूर कर दें। इनकी किरणों को जितना भी शरीर पर लिया जा सके लेना चाहिए। शरीर पर पड़नेवाली सूर्य-किरणें स्वर्ण के इञ्जैक्शन्स कर रही होती हैं। चन्द्र-किरणों में अमृत भरा है एवं इनसे रोगों का दूर करना सम्भव ही है। सूर्य-चन्द्र किरणों के सम्पर्क में रहने का भाव यथासम्भव घर के बाहर खुले में रहने से है। जितना खुले मे रहेंगे, जितना बाह्य जीवन (out door life) होगा, उतना ही इन क्षेत्रिय रोगों से बचे रहेंगे। घर में बैठे रहनेवालों को ही ये रोग पीड़ित करते हैं।

भावार्थ—सूर्य व चन्द्र की किरणों को शरीर पर लेने से क्षेत्रिय रोगों के पाश से मुक्ति मिल सकती है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**क्षेत्रिय-(यक्ष्मकुष्ठादि)-नाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

रात्रि की समाप्ति पर

अपेयं रात्र्युच्छत्वपोच्छन्त्वभिकृत्वरीः। वीरुत्क्षैत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु॥ २ ॥

१. **इयम्**=यह उषाकालवाली **रात्री**=रात्रि **अप उच्छतु**=अन्धकार को दूर करदे। जिस प्रकार जाती हुई रात्रि अन्धकार को नष्ट करती है, उसी प्रकार अन्धकार की भाँति आवरक इस क्षेत्रिय व्याधि को भी यह दूर करे। वस्तुतः क्षेत्रिय रोगों की चिकित्सा का काल यही होता है, जबकि रात्रि जा रही होती है और उषा आ रही होती है। २. **अभिकृत्वरीः**=कर्तनशील-अपस्मार आदि रोगों के कारणभूत कृमि भी **अप उच्छन्तु**=दूर चले जाएँ और **क्षेत्रियनाशनी**=क्षेत्रिय रोगों को दूर करनेवाली **वीरुत्**=वीरुत् नामक लता **क्षेत्रियम्**=इस क्षेत्रिय रोग को **अप उच्छतु**=दूर

करनेवाली हो।

भावार्थ—रात्रि की समाप्ति और उषा का आरम्भ क्षेत्रिय रोगों की चिकित्सा का समय है। इस समय क्षेत्रियनाशनी वीरुत् का प्रयोग क्षेत्रिय रोगों के कृमियों को नष्ट करनेवाला है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**क्षेत्रिय-(यक्ष्मकुष्ठादि)-नाशनम्** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

यवतुष+तिलपिञ्जी

बभ्रोरर्जुनकाण्डस्य यवस्य ते पलाल्या तिलस्य तिलपिञ्ज्या।
वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु॥ ३॥

१. **बभ्रोः**-कपिल वर्णवाले, **अर्जुनकाण्डस्य**-श्वेतकाण्ड—डण्ठल (तने)-वाले **यवस्य** जौ के **पलाल्या**-तुष के साथ तथा **तिलस्य तिलपिञ्ज्या** तिल की मञ्जरी के साथ यह **वीरुत्** ओषधिभूत लता **क्षेत्रियनाशनी**-क्षेत्रिय रोगों को दूर करनेवाली है। यह **क्षेत्रियम्**-क्षेत्रिय रोग को **अप उच्छतु**-दूर करे। २. क्षेत्रिय नाशनी वीरुत् के सहायक तत्त्व दो हैं, (क) **भूरे**-श्वेत डण्ठलवाले जौ का तुष, (ख) तिल की मञ्जरी। सायण के अनुसार '**ब्रभोः अर्जुनकाण्डस्य**' का सम्बन्ध यव के साथ नहीं है। भूरे वर्ण के अर्जुनवृक्ष के तने का अंश, यव का तुष तथा तिलपिञ्जी—ये तीन वस्तुएँ क्षेत्रिय रोग-नाशिनी वीरुत् की सहायक बनती हैं।

भावार्थ—अर्जुनवृक्ष के काण्ड (तने) का अंश, यव का तुष तथा तिलपिञ्जी आदि के प्रयोग से क्षेत्रिय रोग दूर हो सकता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**क्षेत्रिय-(यक्ष्मकुष्ठादि)-नाशनम्** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥

'लाङ्गल, ईषा व युग'

नमस्ते लाङ्गलेभ्यो नम ईषायुगेभ्यः। वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु॥ ४॥

१. गतमन्त्र में वर्णित ओषधियों को उत्पन्न करने में उपकरण बननेवाले **लाङ्गलेभ्यः**-हलों (Plough) के लिए **नमः**-नमस्कार करते हैं। ये हल **ते**-तेरे रोगशमन में परम्परागत कारण बनते हैं। **ईषा** लाङ्गलदण्ड (Pole) व **युगेभ्यः**-जुए (yoke) के लिए भी **नमः** हम आदर का भाव धारण करते हैं। इन उपकरणों के द्वारा भूमि से उत्पन्न हुई **वीरुत्**-बेल **क्षेत्रियनाशनी**-क्षेत्रिय रोगों को नष्ट करनेवाली है। यह क्षेत्रिय रोग को **अप उच्छतु**-दूर करनेवाली हो।

भावार्थ—ओषधियों के उत्पादन में उपकरणभूत 'लाङ्गल, ईषा व युग' आदि का उचित आदर करना चाहिए। उन्हें ठीक रखते हुए उचित रूप में उपयुक्त करना ही उनका आदर है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**क्षेत्रिय-(यक्ष्मकुष्ठादि)-नाशनम्** ॥ छन्दः—**निचृत्पथ्यापङ्क्तिः** ॥

सनिस्रसाक्ष, सन्देश्य, क्षेत्रपति

नमः सनिस्रसाक्षेभ्यो नमः सन्देश्ये[भ्यः]।
नमः क्षेत्रस्य पतये वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु॥ ५॥

१. **सनिस्रसाक्षेभ्यः**-(स्रंस् to go, अक्ष-Axle-pole या कार) खूब गतिशील अक्षदण्ड या गतिशील गाड़ियों के लिए, जिनमें कृषि से उत्पन्न सामान को इधर उधर ले जाते हैं, **नमः** नमस्कार हो। **सन्देश्येभ्यः** इन अन्नों के सन्देशवाहकों के लिए—इन औषध-द्रव्यों के गुणों का प्रचार करनेवालों के लिए **नमः**-नमस्कार हो। **क्षेत्रस्य पतये**-क्षेत्र के पति के लिए, जो इन ओषधियों को उत्पन्न करता है, **नमः**-नमस्कार हो। २. इसप्रकार उत्पन्न की गई, यथास्थान पहुँचाई गई और जिनके गुणों का ज्ञान दिया गया है, वह **क्षेत्रियनाशनी**-क्षेत्रिय रोग को नष्ट करनेवाली **वीरुत्**-लता **क्षेत्रियम्**-क्षेत्रियरोग को **अप उच्छतु**-नष्ट करनेवाली हो।

भावार्थ—क्षेत्रपति को उचित आदर देना है, उसकी गाड़ियों को ठीक रखना है। औषध-द्रव्यों के गुणों का सन्देश देनेवालों के लिए भी उचित आदर हो।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में क्षेत्रिय रोगों को दूर करने के लिए सूर्य-चन्द्र के सम्पर्क में रहने का विधान है (१)। तीसरे मन्त्र में अर्जुनवृक्ष, यवतुष् तथा तिलपिञ्जी को क्षेत्रिय रोग का नाशक बताया है। अगले सूक्त में ग्राही-गठिया को दूर करने के लिए दशवृक्ष का उल्लेख है।

९. [नवमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**विराट्प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

सन्धिवात-चिकित्सा

दशवृक्ष मुञ्चेमं रक्षसो ग्राह्या अधि यैनं जग्राह पर्वसु।
अथो एनं वनस्पते जीवानां लोकमुन्नय॥ १ ॥

१. हे **दशवृक्ष**-दशवृक्षों के मेल से बनाये जानेवाले 'दशमूल' नामक औषध! **इमम्**=इस पुरुष को **रक्षसः**-इस अत्यन्त राक्षसी—सब रमणों—आनन्दों का क्षय करनेवाली—**ग्राह्याः**=अङ्गों को जकड़ लेनेवाली ग्राही (गठिया) नामक बीमारी से **अधिमुञ्च**-मुक्त करो, **या**=जो बीमारी **एनम्**=इसे **पर्वसु जग्राह**=पर्वों में—जोड़ों में—पकड़े हुए हैं। २. **अथ उ**-और अब इसे रोगमुक्त करके हे **वनस्पते**=शरीर का रक्षण करनेवाली औषध! **तू एनम्**=इसे **जीवानां लोकम्**=जीवित पुरुषों के लोक में **उन्नय**=उत्कर्षेण प्राप्त करा। रोगग्रस्त होकर यह इधर-उधर जाने में असमर्थ हो गया था। इसे रोगमुक्त करके समाज में फिर से ठीक विचरण करनेवाला बना दो।

भावार्थ—दशवृक्षों के मूल से उत्पन्न 'दशमूल' औषध संधिवात को दूर करके हमें समाज में आने-जाने के योग्य बना दे।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

रोगमुक्ति के परिणाम

आगादुदगादयं जीवानां व्रातमप्यगात्।
अभूदु पुत्राणां पिता नृणां च भगवत्तमः॥ २ ॥

१. **अयम्**-औषध-प्रयोग से रोगमुक्त हुआ हुआ यह पुरुष **आगात्**-समन्तात् गतिवाला हुआ है। **उद् आगात्**-यह उत्कृष्ट गतिवाला हुआ है। **जीवानां व्रातं अपि**=जीवों के समूह में भी **आगात्** आया है—सभा-समाज में आने जाने लग गया है। २. इनता ही नहीं **उ**=और—विवाहित होकर यह **पुत्राणां पिता अभूत्**-पुत्रों का पिता हुआ है **च**=और **नृणां भगवत्तमः**-मुनष्यों में उत्तम ऐश्वर्यवाला हुआ है। रोगपीड़ित अवस्था में इसका आना-जाना रुका हुआ था, लेटा ही रहता था। विवाहित होने का प्रश्न ही नहीं था, धनार्जन के कामों को कर सकना सम्भव न था। अब ठीक होकर यह सब-कुछ करने लगा है।

भावार्थ—'ग्राही' रोग ने इसे समाज में आने-जाने से रोक रक्खा था। यह विवाहित होने योग्य भी न लगता था, कुछ कमाना इसके लिए सम्भव ही न था। अब औषध-प्रयोग से रोग से ऊपर उठकर यह समाज में आने-जाने लगा है, पिता बना है और धनार्जन कर पाया है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मस्तिष्क व शरीर का स्वास्थ्य।

अधीतीरध्यगादयमधि जीवपुरा अगन्। शतं ह्यस्य भिषजः सहस्रमुत वीरुधः॥ ३ ॥

१. **हि** निश्चय से **अस्य** इस ग्राहीरोग के **शतं भिषजः** सैकड़ों वैद्य हैं **उत**-और **सहस्त्रम्**-हज़ारों **वीरुधः** -(विरुन्धन्ति विनाशयन्ति रोगान्) रोगनाशक औषध हैं, अर्थात् यह ग्राहीरोग ऐसा भयंकर व डरने योग्य नहीं। **अयम्** यह व्यक्ति स्वस्थ होकर **अधीतिः**-अध्ययन करने योग्य सब वस्तुओं का **अध्यगात्**=स्मरण करने लगा है और **जीवपुराः**=जीवितों के नगरों में **अधि अगन्**=आने जाने लगा है, अर्थात् इसके सब व्यवहार साधारणतया ठीक से होने लगे हैं। २. रोग की अवस्था में व्याकुलता के कारण यह कुछ भी नहीं कर पा रहा था। अब इसका मस्तिष्क व शरीर दोनों ठीक से कार्य करने लगे हैं। मस्तिक के ठीक हो जाने के कारण यह ठीक से पढ़ने लिखने लगा है और शरीर के स्वस्थ हो जाने से यह नगरों में आने जाने लगा है।

भावार्थ—ग्राहीरोग के औषधों व चिकित्सकों की कमी नहीं। यह रोगी ठीक होकर मस्तिष्क व शरीर से ठीक रूप में कार्यों को करने लगा हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

देव, ब्रह्मा, वीरुध

दे॒वास्ते॑ ची॒तिम॑विदन्ब्र॒ह्माण॑ उ॒त वी॒रुधः॑।

ची॒तिं ते॒ विश्वे॑ दे॒वा अवि॑दु॒न्भूम्या॒मधि॑॥ ४॥

१. **देवाः** सूर्य चन्द्रादि देव **ते**-तेरे **चीतिम्**-संवरण को (चीव्+ति-संवरण) **अविदन्**-जानते हैं, अर्थात् इन देवों के सम्पर्क में रहने से यह ग्राहीरोग नष्ट हो जाता है। 'चीति' शब्द 'चिति' के स्थान में प्रयुक्त मानकर यह अर्थ भी किया जा सकता है कि ये देव तेरी अन्त्येष्टि की चिता (funeral pyre) को जानते हैं। इसीप्रकार **ब्रह्माणः**-ज्ञानी वैद्य **उत**-और **वीरुधः**-रोगनाशक लताएँ तेरी चिति को जानते हैं, अर्थात् तेरा नाश करने में समर्थ हैं। २. **भूम्याम् अधि**=इस पृथिवी पर **विश्वेदेवाः**-सब ज्ञानी पुरुष **ते चीतिम्**-तेरे विनाश को **अविदन्** जानते हैं, तेरे नाश के उपाय को जानते हुए वे तुझे नष्ट करते हैं।

भावार्थ—सूर्यादि देव, ज्ञानी वैद्य व कई लताएँ इस ग्राहीरोग को नष्ट करती हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'सर्वमहान् वैद्य' प्रभु

यश्च॒कार॒ स निष्क॑र॒त्स ए॒व सु॒भिष॑क्तमः।

स ए॒व तुभ्यं॑ भेष॒जानि॑ कृणव॑द्भि॒षजा॒ शुचिः॑॥ ५॥

१. **यः चकार**=जो प्रभु इस संसार को बनाते हैं और इसमें जीवों को कर्मानुसार दण्ड देते हुए ग्राही आदि रोगों को भी उत्पन्न करते हैं, **सः निष्करत्** वे प्रभु ही रोग को दूर भी करते हैं। प्रभुकृपा से ही रोगों का विनाश हुआ करता है। **सः एव**-वे प्रभु ही **सु-भिषक्तमः**-सर्वमहान् वैद्य हैं। '**भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि**' (ऋ० २.३३.४) २. **सः एव**-वे प्रभु ही **तुभ्यम्**-तेरे लिए **भिषजा** वैद्यों के द्वारा **भेषजानि कृणवत्**-औषधों को करता है। वैद्य निमित्त बनता है, चिकित्सक तो प्रभु ही हैं। वे प्रभु ही रोगमुक्त करनेवाले हैं। रोगरहित करनेवाले प्रभु **शुचिः** हमें निर्मल शरीर व मन के देनेवाले हैं। वे हमारे शरीरों व मनों का शोधन करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सर्वमहान् वैद्य हैं। वैद्य को माध्यम बनाकर प्रभु ही हमें रोगमुक्ति व शुचिता प्रदान करते हैं।

विशेष—इस सूक्त में मुख्यरूप से सन्धिवात की चिकित्सा का उल्लेख हुआ है। इस प्रसंग

में 'दशवृक्ष' का उल्लेख प्रथम मन्त्र में है (१)। अन्तिम मन्त्र में प्रभु-स्मरण करते हुए उत्तम वैद्य के परामर्श से रोगनाशक वीरुधों के प्रयोग का विधान है (५)। अगले सूक्त में भी शरीर व मानस व्याधियों को दूर करने का प्रसङ्ग है—

१०. [दशमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**निर्ऋतिद्यावापृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ज्ञान के द्वारा निर्दोषता

क्षेत्रियात्त्वा निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम्॥ १॥

१. **क्षेत्रियात्**-क्षय+कुष्ठ आदि दोष से दूषित, माता-पिता के शरीर से पुत्रादि के शरीर में संक्रान्त हुए क्षय+कुष्ठ आदि रोग से, **निर्ऋत्या**=रोगनिमित्तभूत पाप से, **जामिशंसात्**=बन्धु-बान्धवों के आक्रोशजनित कष्ट से, **द्रुहः**-द्रोहवृत्ति से और **वरुणस्य पाशात्**=अनृतवादी को जकड़ लेनेवाले वरुण के पाशों से [ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः], **त्वा**-तुझे **मुञ्चामि**=मुक्त करता हूँ। २. **त्वा**=तुझे **ब्रह्मणा**=ज्ञान के द्वारा **अनागसं कृणोमि**-निष्पाप करता हूँ। ज्ञान के द्वारा हमारे दोष व पाप नष्ट होते हैं। उनके नाश से शरीर के रोग भी दूर हो जाते हैं। ज्ञान के अभाव में ही चराचर-विषयक ग़लतियाँ होती हैं और शरीर में दोष उत्पन्न हो जाते हैं। ज्ञान होने पर **उभे**=ये दोनों **द्यावापृथिवी**=द्युलोक और पृथिवीलोक **ते**-तेरे लिए **शिवे**=कल्याणकर **स्ताम्**=हों। द्युलोक से पृथिवीलोक तक सब पदार्थों की अनुकूलता होने पर किसी प्रकार के कष्ट नहीं होते। इनकी अनुकूलता के लिए ज्ञान आवश्यक है—'**स्वस्ति द्यावापृथिवी सुचेतुना**'—उत्तम ज्ञान से द्यावापृथिवी कल्याणकर होते हैं।

भावार्थ—ज्ञान से सब पदार्थों का ठीक प्रयोग होने पर सब दोष व रोग नष्ट हो जाते हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**निर्ऋतिद्यावापृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**सप्तपदाष्टिः** ॥

गरमपानी व वानस्पतिक भोजन

शं ते अग्निः सहाद्भिरस्तु शं सोमः सहौषधीभिः।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम्॥ २॥

१. हे रुग्ण पुरुष! **ते**=तेरे लिए **अद्भिः सह**=जलों के साथ **अग्निः शम्**-अग्नि सुखकर **अस्तु**-हो। यदि पीने के लिए गरम पानी का प्रयोग किया जाए तो अग्नि और जल का साथ-साथ प्रयोग प्रायः सब रोगों को नष्ट कर देता है। समान्य नियम यही रहना चाहिए कि पीने के लिए गरम पानी व स्नान करने के लिए ठण्डा। स्नान में प्रयुक्त हुआ ठण्डा जल एक उत्तम टानिक का काम करता है। स्पंजिंग-विधि से तौलिये से रगड़कर किया गया स्नान रुधिराभिसरण के लिए अत्युत्तम है। इससे सारा स्नायु संस्थान जीवित हो उठता है। २. **ओषधिभिः सह**=वानस्पतिक भोजन के साथ **सोमः**=उत्पन्न हुआ-हुआ सोम तेरे लिए **शम्**=शान्तिकर हो। ओषधियाँ प्रायः शीतवीर्य होने से सोम के शरीर में सुरक्षित होने में सहायक हो जाती हैं। मांसादि भोजन और अधिक अग्निपाक भोजन उष्णवीर्य होने से सोमरक्षण में सहायक नहीं होते। ३. **एव**=इसप्रकार (क) जलों के साथ गरम पानी के प्रयोग से तथा (ख) ओषधियो में उत्पन्न सोम से **अहम**-मैं **त्वाम्**=तुझे क्षेत्रिय रोगादि से जनित कष्टों से मुक्त करता हूँ। (शेष प्रथम मन्त्र के समान)।

भावार्थ—पीने के लिए गरम जल का प्रयोग तथा खाने के लिए वानस्पतिक भोजनों के द्वारा हम रोगों व अशुभ मानस वृत्तियों को दूर कर सकते हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**निर्ऋतिद्यावापृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**समपदाधृतिः** ॥

वायु व चारों दिशाएँ

शं ते वातो अन्तरिक्षे वयो धाच्छं तें भवन्तु प्रदिशश्चतस्रः।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम्॥ ३॥

१. **अन्तरिक्षे**-अन्तरिक्ष में गति करनेवाला यह **वातः**-वायु **ते**-तेरे लिए **शम्**-शान्तिकर हो और **वयः** दीर्घायुष्य को **धात्** करे। शुद्धवायु दीर्घायु का कारण बनती ही है। सदा शुद्ध वायु में श्वास लेने से रोग होने की सम्भावना ही नहीं रहती। 'अन्तरिक्षे' शब्द का प्रयोग यह संकेत कर रहा है कि शुद्ध वायु मन की प्रसन्नता का भी मूल बनती है। जैसे अन्तरिक्ष में वायु निरन्तर चल रही है, इसीप्रकार हृदयान्तरिक्ष में भी धर्म का संकल्प कभी सुप्त नहीं होना चाहिए। २. **ते**-तेरे लिए **चतस्रः**-चारों **प्रदिशः** प्रकृष्ट दिशाएँ **शम् भवन्तु**-शान्ति देनेवाली हों। ये 'प्राची, प्रतीची, अवाची, उदीची, नामवाली दिशाएँ तुझे क्रमशः 'आगे बढ़ने (प्र अञ्च् गति), इन्द्रियों को विषयों से लौटाने, (प्रति अञ्च) नम्रता अव अञ्च तथा ऊर्ध्व गति उन्नतिपथ पर चलने उद् अञ्च का उपदेश करती हुई तेरी वास्तविक शान्ति का कारण बनें। ३. **एव** इसप्रकार (क) अन्तरिक्ष में चलनेवाली वायु से हृदयान्तरिक्ष में कर्म की प्रेरणा लेने के द्वारा तथा (ख) दिशाओं से प्रगति, प्रत्याहार, प्रश्रय (विनय) व उन्नति का पाठ पढ़ने के द्वारा **अहम्**-मैं **त्वाम्**-तुझे क्षेत्रियादि रोगों से जनित कष्टों से मुक्त करता हूँ। [शेष पूर्ववत्]।

भावार्थ—हृदय में कर्मसंकल्प तथा प्रगति, प्रत्याहार, प्रश्रय व प्रकर्ष (उन्नति) का भाव हमें रोगों व द्रोहादि अशुभ वृत्तियों से बचाता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**निर्ऋतिद्यावापृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**समपदाधृतिः** ॥

वायुप्रवाह व सूर्यप्रकाश

इमा या देवीः प्रदिशश्चतस्रो वातपत्नीरभि सूर्यो विचष्टे।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम्॥ ४॥

१. **याः** जो **इमाः**-ये **देवीः** प्रकाशमय व सब व्यवहारों की साधक **चतस्रः**-चार **प्रदिशः**-प्रकृष्ट दिशाएँ हैं, वे दिशाएँ जोकि **वातपत्नीः**-वायुरूप पतिवाली हैं, अर्थात् वायु जिनकी रक्षा करती है और **सूर्यः** सूर्य **अभिविचष्टे** जिन्हें समन्तात् प्रकाशित करता है। २. **एव**-इसप्रकार **अहम्**=मैं **त्वाम्**-तुझे वायु के प्रवाहवाली व सूर्य के प्रकाशवाली दिशाओं के द्वारा क्षेत्रिय आदि रोगों से जनित कष्टों से मुक्त करता हूँ। तेरा घर इसप्रकार का होगा कि वहाँ वायु का प्रवाह ठीक से आता हो तथा सूर्य की किरणें खूब प्रकाश प्राप्त कराती हों। ऐसे घर में रोगों का प्रकोप नहीं होता। [शेष पूर्ववत्]।

भावार्थ—वायु की गतिवाली व सूर्य के प्रकाशवाली दिशाएँ स्वास्थ्य के लिए सहायक होती हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**निर्ऋतिद्यावापृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**सप्तपदाधृतिः** ॥

यक्ष्म व निर्ऋति का निराकरण

तासु त्वान्तर्जरस्या दधामि प्र यक्ष्म एतु निर्ऋतिः पराचैः।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम्॥ ५॥

१. **तासु**=ऊपर के मन्त्र में वर्णित वायुप्रवाह व सूर्य प्रकाशवाली दिशाओं के **अन्तः**-अन्दर हे रुग्ण-पुरुष! **त्वाम्**=तुझे **जरसि आदधामि**=जरा में स्थापित करता हूँ, अर्थात् सदा इन दिशाओं में जीवन यापन का अवसर देते हुए मैं तुझे जरापर्यन्त नीरोग रखते हुए सौ वर्ष के आयुष्यवाला करता हूँ। २. ऐसे स्थान में रहने से **यक्ष्मः**=तेरा राजयक्ष्मादि क्षेत्रिय रोग **प्रैतु**-तुझे छोड़कर चला जाए। **निर्ऋतिः**-तेरे रोग की निदानभूत पापदेवता **पराचैः**=पराङ्मुखी होकर दूर चली जाए। ३. **एव**-इसप्रकार खुले स्थान में निवास के द्वारा **अहम्**=मैं **त्वाम्**=तुझे क्षेत्रिय आदि रोगों से **मुञ्चामि**=मुक्त करता हूँ। [शेष पूर्ववत्]।

भावार्थ—खुले स्थान में निवास हमें रोगों से बचाए और दीर्घ जीवन प्राप्त कराए।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**निर्ऋतिद्यावापृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**सप्तपदात्यष्टिः** ॥

दुरित, अवद्य, द्रोहादि से मुक्ति

अमुक्था यक्ष्माद्दुरितादवद्याद् द्रुहः पाशाद् ग्राह्याश्चोदमुक्थाः।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम्॥ ६॥

१. हे रुग्ण! तू **यक्ष्मात्**=क्षेत्रिय व्याधि से **अमुक्थाः**-मुक्त हो गया है। उपरले मन्त्रों में दिये गये निर्देशों को क्रियारूप में लाने से तू इन रोगों से छूट गया है। **दुरितात्**-निर्ऋति से—बहुत भारी पाप से मुक्त हुआ है, **अवद्यात्**=जामि आदि के अभिशंसनरूप निदान से तू छूट गया है। **द्रुहः**=द्रोहवृत्ति तुझसे दूर हो गई है। **पाशात्** पापियों के निग्राहक वरुण के पाश से तू छूट गया है **च**-तथा **ग्राह्याः**=अंगों को जकड़ लेनेवाले सन्धिवात से भी तू **उद् अमुक्थाः**-मुक्त होकर बाहर आ गया है। **एव**-इसप्रकार **अहम्**-मैं **त्वाम्**=तुझे क्षेत्रियादि रोगों से जनित कष्टों से मुक्त करता हूँ। [शेष पूर्ववत्]।

भावार्थ—मन्त्र-वर्णित साधनों का प्रयोग करते हुए हम 'यक्ष्म, दुरित, अवद्य, द्रोह, वरुण-पाश तथा ग्राही' से मुक्त हो जाएँ।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**निर्ऋतिद्यावापृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**सप्तपदाधृतिः** ॥

कृपणता का त्याग व सुख

अहा अरातिमविदः स्योनमप्यभूर्भद्रे सुकृतस्य लोके।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम्॥ ७॥

१. **अरातिम्**=न देने की वृत्ति को (रा दाने) **अहाः**=तूने छोड़ दिया है। तू दान की वृत्तिवाला बना है। कृपणता से ऊपर उठकर तू उदार हुआ है, परिणामतः तूने **स्योनम्**-सुख को **अविदः**=पाया है और **भद्रे**=कल्याण व सुखवाले **सुकृतस्य**-पुण्य के **लोके**=लोक में **अपि अभूः**=तेरा निवास हुआ है। २. व्याकरण के अनुसार यहाँ 'अपि' शब्द 'पद के अर्थ' में आया

है, अत: यहाँ जीवन निवासादि पदार्थ ही अभिप्रेत हैं। इस भूलोक में तेरा चिरकाल निवास, अर्थात् दीर्घ जीवन हुआ है। ३. **एव**-इसप्रकार 'अ+रातिः' अदान की भावना को छोड़ने के कारण **अहम्** मैं **त्वाम्** तुझे क्षेत्रिय आदि रोगों व तज्जनित कष्टों से मुक्त करता हूँ। [शेष पूर्ववत्]।

भावार्थ—हम अदानवृत्ति से ऊपर उठकर रोगों व पापों से मुक्त हों।

ऋषिः -**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**निर्ऋतिद्यावापृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः —**सप्तपदाधृतिः** ॥

सूर्य व ऋत

सूर्यमृतं तमसो ग्राह्या अधि देवा मुञ्चन्तो असृजन्निरेनसः।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम्॥ ८॥

१. **देवाः** देववृत्ति के पुरुष **तमसः**-अज्ञान अन्धकार से तथा **ग्राह्याः** सन्धिवात आदि जकड़ लेनेवाले रोगों से और **एनसः** पापों से **अधिमुञ्चन्तः** अपने को मुक्त करते हुए **सूर्यम्** मस्तिष्क में ज्ञान सूर्य को तथा **ऋतम्**-व्यवहार में ऋत को—प्रत्येक क्रिया को नियमितरूप से करने को **निः असृजन्** निश्चय से उत्पन्न करते हैं। मस्तिष्क में ज्ञान के सूर्य, हृदय में निष्पापता तथा क्रियाओं (हाथों) में ऋत के होने पर मनुष्य परिपूर्ण जीवनवाला बनता है। २. **एव**-इसप्रकार तमस्, ग्राही व एनस् से मुक्ति के द्वारा **अहम्**-मैं **त्वाम्** तुझे क्षेत्रियादि रोगों व तज्जनित कष्टों से मुक्त करता हूँ। [शेष पूर्ववत्]।

भावार्थ—मस्तिष्क में तमस् न हो, शरीर में ग्राही न हो तथा मन में एनस् न हो तो जीवन सूर्य व ऋतवाला बनता है।

विशेष—इस सारे सूक्त में क्षेत्रिय रोगों से, निर्ऋति से, जामिशंस से, द्रोह से तथा वरुण के पाश से मुक्ति के साधनों का उल्लेख हुआ है। अगले सूक्त का ऋषि शुक्र है—शुचितावाला व वीर्यसम्पन्न (शुच् दीप्तौ, शुक्रं वीर्यम्)। वह सब कृत्याओं दुष्क्रियाओं (यजुः० ३४.११, द०) का दूषण करता हुआ आगे बढ़ता है। यह कृत्यादूषण ही सूक्त की देवता है—

११. [एकादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः [कृत्यादूषणम्]** ॥ छन्दः —**चतुष्पदाविराड्गायत्री** ॥

मनन, ज्ञान, दोषदहन

दूष्या दूषिरसि हेत्या हेतिरसि मेन्या मेनिरसि।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम॥ १॥

१. अपने में शक्ति का रक्षण अथवा पवित्रता का आधान करनेवाले हे शुक्र! तू **दूष्याः**-दोष का **दूषिः** दूषित करनेवाला **असि** है, अर्थात् दोषों को दोषों के रूप में देखता हुआ उनकी ओर आकृष्ट होनेवाला नहीं है। २. ऐसा तू इस लिए बन पाया है चूँकि तू **हेत्याः**-ज्ञान ज्वालाओं की (Light, Splendour, Flame) **हेतिः** ज्वाला **असि**-है, अत्यन्त ज्ञानदीप्त होने के कारण ही तू दोषों को दूषित कर पाता है। अज्ञानी को तो ये अपनी ओर आकृष्ट कर ही लेते हैं। ३. ज्ञान-ज्वालाओं को तू अपने में इसलिए दीप्त कर पाया कि तू **मेन्याः**-विचारशीलता का भी **मेनिः**-विचारशील **असि**-बना है। सदा मनन करने के कारण तूने ज्ञान की ज्योति को जगाया और उस ज्ञान-ज्योति में दोषों को दग्ध कर दिया। ४. तेरा यही कर्त्तव्य है कि तू **श्रेयांसम् आप्नुहि**-अपने से अधिक श्रेष्ठ को प्राप्त कर और **समम् अतिक्राम**-बराबरवाले को लाँघ जा। हमें चाहिए

कि श्रेष्ठों के सम्पर्क में आकर हम श्रेष्ठ बनने का प्रयत्न करें और उन्नति के मार्ग में आगे बढ़ जाने की हममें प्रबल भावना हो। परस्पर स्पर्धा से चलते हुए हम आगे-ही-आगे चलें।

भावार्थ—हम मननशील बनकर ज्ञान ज्वाला को दीप्त करें और उसमें दोषों को दग्ध कर दें।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः [कृत्यादूषणम्]** ॥ छन्दः—**त्रिपदापरोष्णिक्** ॥

गतिशीलता व दोषों पर आक्रमण

स्त्रक्त्यो॑ऽसि प्रतिस॒रो॑ऽसि प्रत्यभि॒चर॑णोऽसि। आ॒प्नु॒हि श्रेयां॑स॒मति॑ स॒मं क्रा॑म ॥ २ ॥

१. **स्त्रक्त्यः**=(स्त्रक् गतौ, स्त्रक्तौ गतौ उत्तमः) तू गति में उत्तम **असि**-है। तू कभी भी अकर्मण्य नहीं होता। सदा गतिशील होता हुआ तू अपवित्रता को अपने से दूर रखता है। २. **प्रतिसरः असि**=तू प्रतिदिन गतिशील होता है, प्रत्येक उत्तम बात को लक्ष्य करके उसे अपनाने के लिए आगे बढ़ता है। ३. **प्रति अभिचरणः असि**=मार्गों में आनेवाले विघ्नों व दोषों को तू आक्रान्त करनेवाला है। उन दोषों को आक्रान्त करके ही तू उत्तम गुणों में आगे बढ़ता है। तेरी सारी गति इसी उद्देश्य से ही होती है। ४. इसके लिए तू **श्रेयांसं आप्नुहि**-अपने से श्रेष्ठों को प्राप्त कर और **समम्**-बराबरवालों को **अतिक्राम**=लाँघ जा।

भावार्थ—हम गतिशील हों, सारी गति शुभ गुणों की प्राप्ति के लिए हो। शुभ गुणों की प्राप्ति के लिए हम दोषों पर आक्रमण कर उन्हें पराभूत करनेवाले हों।

अगले मन्त्र में दोषों के अग्रणी काम पर आक्रमण का उल्लेख है—

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः [कृत्यादूषणम्]** ॥ छन्दः—**त्रिपदापरोष्णिक्** ॥

काम-विध्वंस

प्रति॒ तम॒भि च॑र॒ यो॒३॒॑स्मान्द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः। आ॒प्नु॒हि श्रेयां॑स॒मति॑ स॒मं क्रा॑म ॥ ३ ॥

१. **यः**-जो **अस्मान् द्वेष्टि**-हमसे अप्रीति करता है और **यं वयं द्विष्मः**-जिसे हम नहीं चाहते **तम् प्रति**-उसकी ओर **अभिचर**-आक्रमण करनेवाला हो। प्रभु जीव से कहते हैं कि काम अर्थात् वृत्र ज्ञान का नाश करके मनुष्य को मुझसे दूर करता है। इसप्रकार यह कामदेव 'महादेव' का शत्रु है। महादेव की नेत्र ज्योति से इसके भस्म होने का उल्लेख है। कामदेव महादेव को नहीं चाहता और महादेव को कामदेव अभिप्रेत नहीं। प्रभु का सखा बननेवाले जीव का यह कर्त्तव्य है कि वह काम पर आक्रमण कर उसे पराभूत करे। इसके लिए चाहिए यह कि यह **श्रेयांसं आप्नुहि**-अपने से श्रेष्ठों को प्राप्त करे और **समम् अतिक्राम** बराबरवालों को लाँघ जाए।

भावार्थ—प्रभु के अप्रिय 'काम' पर आक्रमण करके हम उसे पराभूत करें और आगे बढ़ें।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः [कृत्यादूषणम्]** ॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृदुष्णिक्** ॥

ज्ञान+शक्ति=शरीर-रक्षण

सू॒रिर॑सि वर्चो॒धा अ॑सि तनू॒पानो॑ऽसि। आ॒प्नु॒हि श्रेयां॑स॒मति॑ स॒मं क्रा॑म ॥ ४ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार काम का विध्वंस करके तू **सूरिः असि**=ज्ञानी बना है। काम ने ही ज्ञान पर पर्दा डाला हुआ था। पर्दा हटा और तेरे ज्ञान का प्रकाश चमक उठा। २. **वर्चोधा असि**-तू अपने में वर्चस् का धारण करनेवाला बना है। कामवासना ही शक्ति को व्ययित [खर्च] करनेवाली थी, उसका विध्वंस होते ही शक्ति का सञ्चय सम्भव हो गया। ३. इसप्रकार मस्तिष्क में ज्ञान व शरीर में शक्ति स्थापित करके **तनूपानः असि**=तू शरीर का ठीक रक्षण करनेवाला बना है। ४. ऐसा बनने के लिए तू **आप्नुहि श्रेयांसम्**-श्रेष्ठों को प्राप्त कर और **समम् अतिक्राम**= बराबरवालों को लाँघ जा।

भावार्थ—हम ज्ञानी बनें, वर्चस् को धारण करें और इसप्रकार शरीर का रक्षण करें।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता -**मन्त्रोक्ताः [कृत्यादूषणम्]** ॥ छन्दः—**त्रिपदापरोष्णिक्** ॥

शक्ति व दीप्ति, ज्ञान की वाणियाँ व ज्ञान-ज्योति

शुक्रो ऽसि भ्राजो ऽसि स्व रसि ज्योतिरसि।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम॥ ५॥

१. **शुक्रः असि**-तू पवित्र व शक्तिशाली बना है। 'काम' ही अपवित्रता व अशक्ति का हेतु था। काम गया, अपवित्रता व अशक्ति भी गई। आज तू **भ्राजः असि** मानस व शरीर स्वास्थ्य के कारण चमक उठा है। २. **स्वः असि**-(स्वृ शब्दे) तू ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करनेवाला है। काम ने ही तो तुझे इनसे विमुख किया हुआ था। इसका विध्वंस तुझे ज्ञान प्रवण बनानेवाला है। ज्ञान-वाणियों का उच्चारण करते हुए तू **ज्योतिः असि** ज्ञान का प्रकाश ही हो गया है। ज्ञान की वाणियों के उच्चारण से ज्ञान ज्योति को बढ़ना ही था। २. ऐसा तू **आप्नुहि श्रेयांसम्** अपने से श्रेष्ठों को प्राप्त कर और **समम् अतिक्राम**=बराबरवालों को लाँघ जा।

भावार्थ—काम विध्वंस से मनुष्य शक्तिशाली बनकर चमक उठता है और ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करते हुए ज्ञान ज्योतिवाला हो जाता है।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त जीवात्मा को अत्यन्त सुन्दर प्रेरणा दे रहा है। इसके चतुर्थ मन्त्र में इसे 'वर्चोधाः असि' इन शब्दों में यह कहा गया है कि तू शक्ति का धारण करनेवाला है। पाँचवें मन्त्र में तो 'शुक्रः असि' इन शब्दों में यह कह दिया है कि तू शक्ति ही है। अब अगले सूक्त में यह 'भरद्वाज' अपने में वाज शक्ति को भरनेवाला बन जाता है और वेद के शब्दों में कह उठता है—

१२. [द्वादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं च** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**।

दीप्त पुरुष का दीप्त संसार

द्यावापृथिवी उर्व१न्तरिक्षं क्षेत्रस्य पत्न्युरुगायोऽद्भुतः।
उतान्तरिक्षमुरु वातगोपं त इह तप्यन्तां मयि तप्यमाने॥ १॥

१. **द्यावापृथिवी**-द्युलोक और पृथिवीलोक, **उरु अन्तरिक्षम्**=विशाल अन्तरिक्ष **क्षेत्रस्य पत्नी**-(क्षियन्ति निवसन्ति अस्मिन्निति क्षेत्रमुक्तं लोकत्रयम्, तस्य पत्नी अधिपतिः देवता अग्निवायुसूर्यात्मिका—सा०) पृथिवी की देवता अग्नि, अन्तरिक्ष की देवता वायु तथा द्युलोक की देवता सूर्य, **उरुगायः** (उरुभिः गीयमानः) वह बहुत-से स्तवन किया जाता हुआ **अद्भुतः**=सर्वलोकों को व्याप्त करनेवाला अद्भुत प्रभु **उत** और **वायुगोपाम्**=वायु से रक्षण किया जाता हुआ—वायु से धारण किया जाता हुआ **उरु अन्तरिक्षम्**=यह महा आकाश **ते**=वे सब **इह**-यहाँ **मयि तप्यमाने**-(तप दीप्तौ) मेरे दीप्त होने पर **तप्यन्ताम्**-दीप्त हों। २. वस्तुतः यह सारा संसार हमारा अपना ही प्रतिबिम्ब मात्र है। हम दीप्त हैं तो संसार हमें दीप्त ही दिखता है। मन्त्र का ऋषि 'भरद्वाज' अपने में शक्ति भरने से दीप्ति का अनुभव करता है,वही दीप्ति उसे संसार में प्रतिक्षिप्त हुई प्रतीत होती है, उसे सारा संसार ही चमकता दिखता है। निराशावादी का संसार निराशा से भरा व मुर्झाया हुआ होता है। इस आशावादी भरद्वाज का संसार खिला हुआ व दीप्त है।

भावार्थ—मेरा जीवन दीप्त हो और मैं सारे संसार को दीप्तरूप में ही देखूँ।

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**जगती** ।

उत्साह-वर्धन

इदं देवाः शृणुत ये यज्ञिया स्थ भरद्वाजो मह्यमुक्थानि शंसति।
पाशे स बद्धो दुरिते नि युज्यतां यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति॥ २॥

१. हे **देवाः**=देववृत्ति के व्यक्तियो! **ये**=जो आप **यज्ञियाः स्थ**=पूज्य व संगतिकरण योग्य हो **इदं शृणुत**=हमारी इस प्रार्थना को सुनो कि **भरद्वाजः**-अपने में शक्ति, हविर्लक्षण अन्न (वाज=शक्ति, हवि) को भरनेवाला श्रेष्ठ पुरुष **मह्यम्**=मेरे लिए **उक्थानि**=प्रशंसनीय वचनों को **शंसति**=कहता है। वह मुझे सदा उत्साहवर्धक बातों को कहता हुआ मेरे जीवन को अधिकाधिक दीप्त बनाता है। २. परन्तु **यः**=जो **अस्माकम्**=हमारे **इदं मनः**-इस मन को **हिनस्ति**=नष्ट करता है, अर्थात् जो हमें इस दीप्ति के मार्ग पर चलने में निरुत्साहित करता है, **सः**=वह **पाशे बद्धः**-स्वयं पाशों में जकड़ा हुआ **दुरिते**=मरणरूप दुर्गति में **नियुज्यताम्**-नियुक्त किया जाए। औरों को धर्म-मार्ग से विचलित करता हुआ यह पुरुष स्वयं विषय पाश में बद्ध हुआ मृत्यु को प्राप्त हो।

भावार्थ—उत्तम पुरुष औरों को भी धर्म-मार्ग पर चलने के लिए उत्साहित करते हैं। 'इनसे विपरीत व्यक्ति दुरित को प्राप्त हों' जिससे वे औरों को पथभ्रष्ट करनेवाले न हों।

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ।

अघशंस-व्रश्चन

इदमिन्द्र शृणुहि सोमप यत्त्वा हृदा शोचता जोहवीमि।
वृश्चामि तं कुलिशेनेव वृक्षं यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति॥ ३॥

१. हे **सोमप**-मेरे सोम (वीर्य) का रक्षण करनेवाले **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **यत्**-जब **शोचता**=(शुच् to shine, to be pure or clean) दैवी सम्पत्ति से चमकते हुए पवित्र **हृदा**=हृदय से **त्वा**=आपको **जोहवीमि**=पुकारता हूँ तो आप **इदम्**-मेरी इस प्रार्थना को **शृणुहि**=सुनिए। आपकी कृपा से मेरी यह कामना पूर्ण हो कि मैं **तम्**=उस पुरुष को उसी प्रकार **वृश्चामि**=छिन्न कर दूँ **इव**=जैसे कि **कुलिशेन**=वज्र से **वृक्षम्**-वृक्ष को काट डालते हैं, **यः**-जो व्यक्ति **अस्माकम्**=हमारे **इदं मनः**=सोमरक्षण के द्वारा जीवन को दीप्त बनाने की भावना को **हिनस्ति**=नष्ट करता है। २. अघशंस व्यक्ति सोमरक्षण के महत्त्व की भावना को नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। वे 'मैथुन आदि को '**प्रवृत्तिरेषा भूतानाम्**' कहकर इसे स्वाभाविक कहते हैं। बलात् निरोध से स्नायु-संस्थान के विकृत हो जाने का भय है, अतः सोमरक्षण सदा ठीक ही हो ऐसी बात नहीं है'। इसप्रकार जो अघशंस पुरुष हमारी शुभ वृत्ति को नष्ट करना चाहते हैं, उन्हें हम समाप्त कर दें, उनसे अपना सम्बन्ध-विच्छिन्न कर लें।

भावार्थ—हम अघशंस पुरुषों को समाप्त कर दें, अर्थात् उनसे सम्बन्ध न रक्खें, अन्यथा हमारी शुभ वृत्तियों को वे समाप्त कर देंगे।

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**आदित्यवस्वङ्गिरसः पितरः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

दिव्य तेज

अशीतिभिस्तिसृभिः सामगेभिरादित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभिः।
इष्टापूर्तमवतु नः पितृणामामुं ददे हरसा दैव्येन॥ ४॥

१. **नः**-हमें **पितृणाम्**=माता-पिता आदि के उनसे किये जानेवाले **इष्टापूर्तम्**=इष्ट और पूर्त-यज्ञ व वापी, कूप, तड़ागादि के निर्माण के कार्य **अवतु**-प्रीणित करनेवाले हों। हम भी अपने

पूर्वजों की भाँति इन इष्ट-पूर्त आदि कार्यों को करनेवाले हों। **अमुम्**-इस इष्ट व पूर्त को मैं **आ ददे**-सर्वथा ग्रहण करता हूँ, जिससे मैं **दैव्येन हरसा** दिव्य तेज को प्राप्त करनेवाला बन सकूँ। दिव्य तेज के हेतु से मैं इष्टापूर्त को अपनाता हूँ। २. इसलिए मैं भी इष्टापूर्त को अपनाता हूँ कि **तिसृभिः अशीतिभिः**=(अश् व्याप्तौ) तीनों व्याप्तियों के हेतु से, अर्थात् शरीर, मन व बुद्धि के तेज का मैं अपने में व्यापन कर सकूँ, **सामगेभिः**-साम का गान करने के हेतु से अर्थात् मैं साममन्त्रों से प्रभु का गायन करनेवाला बन सकूँ, **आदित्येभिः**-आदित्यों के हेतु से—मैं गुणों का आदान करनेवाला बनूँ। **वसुभिः**-वसुओं के हेतु से—उत्तम निवासवाला बनूँ और **अङ्गिरोभिः** अङ्गिरसों के हेतु से, अर्थात् मैं अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाला बन पाँऊ। इष्ट व पूर्त आदि कर्मों में लगने का यह परिणाम है कि (क) शरीर, मन व बुद्धि का तेज प्राप्त होता है (ख) प्रभु-उपासना की वृत्ति उत्पन्न होती है, (ग) गुणों के ग्रहण का भाव उत्पन्न होता है, (घ) शरीर में उत्तमता से निवास होता है, (ङ) अङ्ग प्रत्यङ्ग रसमय बना रहता है और (च) दिव्य तेज प्राप्त होता है।

भावार्थ—इष्ट[1] व पूर्त[2] हमारे शरीर, मन व बुद्धि को तेजस्वी बनाकर हमें दिव्य तेजवाला बनाते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**सोम्यासः पितरः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

दीप्ति व शक्ति

द्यावापृथिवी अनु मा दीधीथां विश्वेदेवासो अनु मा रभध्वम्।
अङ्गिरसः पितरः सोम्यासः पापमार्छत्वपकामस्य कर्ता॥ ५॥

१. **द्यावापृथिवी** द्युलोक व पृथिवीलोक **मा अनुदीधीथाम्**-मेरे अनुकूल होकर दीप्त हों। मेरे शरीर में मस्तिष्करूप द्युलोक ज्ञान के सूर्य से चमके और पृथिवीरूप शरीर तेजस्विता से दीप्त बने। २. **विश्वेदेवासः** सब देव **मा अनुरभध्वम्**-मेरे अनुकूल होकर कार्य करनेवाले हों। दिशाएँ मेरे श्रोत्रों को उपश्रुति (श्रवण शक्ति) दें, सूर्य आँखों में दृष्टिशक्ति दे, वायु प्राणशक्ति का वर्धन करे और अग्नि वाणी की शक्ति को दीप्त करे। इसीप्रकार अन्यान्य देवता भिन्न भिन्न अङ्गों को सशक्त बनानेवाले हों। ३. **अङ्गिरसः** अङ्गिरस **पितरः**-पितर व **सोम्यासः**=सौम्य—ये सब भी मेरे अनुकूल होकर कार्य करनेवाले हों। अङ्गिरस् मेरे अङ्गों को रसमय बनाएँ, पितर मेरा रक्षण करें व सौम्य मुझे विनीत बनाएँ। ४. इसप्रकार मेरे जीवन में सदा शुभ इच्छाएँ बनी रहें। **अपकामस्य कर्ता** अशुभ इच्छाएँ करनेवाला व्यक्ति सदा **पापम् आर्छतु** पाप को प्राप्त करे। अशुभ इच्छाओं का परिणाम 'अशुभ कर्म' तो होगा ही।

भावार्थ—मेरी इच्छाएँ सदा शुभ बनी रहें, जिससे शुभ को करता हुआ मैं चमकूँ और शक्तिशाली बनूँ।

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ब्रह्मद्विट् पुरुषों का निरोध

अतीव यो मरुतो मन्यते नो ब्रह्म वा यो निन्दिषत्क्रियमाणम्।
तपूंषि तस्मै वृजिनानि सन्तु ब्रह्मद्विषं द्यौरभिसन्तपाति॥ ६॥

१. हे **मरुतः**-प्राणो! **यः** जो काम-क्रोधादि **नः**-हमारा शत्रु अतीव **मन्यते** अपने को बहुत

---

१. अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम्। आतिथ्यं वैश्वदेवञ्च **इष्टमित्यभिधीयते**॥
२. वापीकूपतडागादिदेवतायतनानि च। अन्नप्रदानमारामाः **पूर्तमित्यभिधीयते**॥

ही प्रबल मानता है और हमपर आक्रमण करता है **वा**=तथा **यः**=जो **ब्रह्म**=मन्त्रों द्वारा **क्रियमाणम्**=की जाती हुई स्तुतियों को **निन्दिषत्**=निन्दित करता है, **तस्मै**=उसके लिए **तपूंषि**=तप व तापक अस्त्र **वृजिनानि**=बाधक हों। तप के द्वारा काम आदि शत्रुओं को हम दूर कर पाएँ और राजा तापक अस्त्रों द्वारा स्तुति आदि कार्यों की निन्दा व विघात करनेवालों को राष्ट्र में से दूर करे। २. **ब्रह्मद्विषम्**=ज्ञान व प्रभुस्तवन में प्रीति न रखनेवाले को **द्यौः**=ज्ञान का प्रकाश **अभिसन्तपति**=पीड़ित करता है। जैसे उल्लू के लिए सूर्य का प्रकाश सुख देनेवाला नहीं होता, इसीप्रकार ब्रह्मद्विट् के लिए ज्ञान का प्रकाश सुखद नहीं होता। ये ब्रह्मद्विट् लोग ब्रह्म-प्राप्ति में तत्पर अन्य लोगों को भी निरुत्साहित करने का प्रयत्न करते हैं। राजा को चाहिए कि इन लोगों को दण्डित करे। उचित दण्ड के द्वारा इन्हें ज्ञान व स्तुति की निन्दा के कार्य से रोके। इसीप्रकार तप हमारे जीवन पर आक्रमण करनेवाले काम आदि शत्रुओं को रोकनेवाला हो।

भावार्थ—तप काम-क्रोधादि को रोके और राजा के तापक अस्त्र ब्रह्मद्विट् लोगों को नियंत्रित करनेवाले हों।

ऋषिः—**भरद्वाजः**॥ देवता—**यमसादनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अग्निदूत-अरंकृत

स॒प्त प्रा॒णान॒ष्टौ म॒न्यस्तांस्ते॑ वृश्चामि॒ ब्रह्म॑णा।
अया॑ य॒मस्य॒ साद॑नम॒ग्निदू॑तो॒ अर॑ङ्कृतः॥ ७॥

१. तेरे **सप्त प्राणान्**=सप्त शीर्षण्य प्राणों को 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्—कानों, नासिका-छिद्रों, आँखों व मुख को' **ब्रह्मणा**=ज्ञान के द्वारा **वृश्चामि**=सब विषयों से पृथक् करता हूँ (Cut asunder)। ज्ञान प्राप्त करके तू आँख आदि को विषयासक्त नहीं होने देता। इसप्रकार तेरे इन सप्त प्राणों को विषयों से पृथक् करके मैं **तान्**=उन **ते**=तेरे **अष्टौ**=आठों **मन्यः**=(मान्या-knowledge) ज्ञान-केन्द्रों को—शरीरस्थ आठों चक्रों को (अष्टाचक्रा नवद्वारा) **वृश्चामि** छीलकर तीक्ष्ण बनाता हूँ—उनके मलों को दूर करके उन्हें दीप्त करता हूँ। २. इसप्रकार इन्द्रियों के विषयों से पृथक् होने तथा ज्ञानकेन्द्रों के दीप्त होने पर तू **यमस्य**=उस नियामक प्रभु के **सादनम्**=गृह को **अया** प्राप्त होता है—तू ब्रह्मस्थ बनता है। वह तू जो **अग्निदूतः**=उस अग्निरूप दूतवाला है, अर्थात् प्रभु से सन्देश प्राप्त करनेवाला है और **अरंकृतः**=ज्ञान व दिव्य गुणों से अलंकृत हुआ है। ३. 'मन को मार लेना' इस वाक्यांश का अर्थ मन को काबू कर लेना है। इसीप्रकार इन्द्रियों व ज्ञानकेन्द्रों के वृश्चन (cutting) का भाव इन्हें पूर्णरूप से वश में कर लेना ही है। जो इन्हें ज्ञान के द्वारा स्वाधीन कर लेता है वह अपने जीवन को सद्गुणों से अलंकृत करनेवाला होता है। यह प्रभु को प्राप्त करता है।

भावार्थ—इन्द्रियों के संयम और ज्ञानकेन्द्रों के दीप्त होने से मनुष्य अपने जीवन को दिव्य गुणों से अलंकृत करके अन्त में प्रभु को पा लेता है।

ऋषिः—**भरद्वाजः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ज्ञानपूर्वक क्रियाएँ

आ द॑धामि ते प॒दं समि॑द्धे जा॒तवे॑दसि। अ॒ग्निः शरी॑रं वेवे॒ष्ट्वसुं॒ वागपि॑ गच्छतु॥ ८॥

१. **ते पदम्**=तेरे पाँव को—तेरी गति को **समिद्धे**=दीप्त **जातवेदसि**=ज्ञानाग्नि में (सब विषयों के जाननेवाले ज्ञान में) **आदधामि**=स्थापित करता हूँ, अर्थात् तेरे सब कार्य ज्ञानपूर्वक हों। ज्ञानपूर्वक होनेवाले कर्म पवित्र होते हैं। २. **अग्निः**=यह ज्ञानाग्नि **शरीरम्**=तेरे शरीर को **वेवेष्टु**=व्याप्त

करले, अर्थात् तेरी सारी ज्ञानेन्द्रियाँ खुद ही ज्ञान-प्राप्ति में लगी हों और **वाक्** तेरी वाणी **असुम् अपि गच्छतु** प्राणशक्ति की ओर जानेवाली हो, तेरी वाणी में शक्ति हो। वस्तुतः जो पुरुष ज्ञानी बनता है, उसकी वाणी में बल होता है। वह शब्दों का प्रयोग इसप्रकार करता है कि वे प्रभावजनक होते हैं।

भावार्थ—हमारी सब क्रियाएँ ज्ञानपूर्वक हों। ज्ञान से हमारा शरीर व्याप्त हो और हमारी वाणी में बल हो।

विशेष—सूक्त की मूल भावना यही है कि हमारा जीवन दीप्त होगा तो हमें संसार भी दीप्त व चमकता हुआ प्रतीत होगा, अतः हमारा सारा प्रयत्न जीवन को दीप्त बनाने में लगे। अगले सूक्त में जीवन को दीप्त बनाने के लिए कुछ नियमों का प्रतिपादन किया गया है। उनका पालन करनेवाला 'अथर्वा'-न डाँवाडोल वृत्तिवाला पुरुष सूक्त का ऋषि है। यह दीर्घ व सुन्दर जीवन के लिए प्रार्थना करता हुआ कहता है कि—

१३. [त्रयोदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गोघृत द्वारा अग्निहोत्र

आयुर्दा अग्ने जरसं वृणानो घृतप्रतीको घृतपृष्ठो अग्ने।
घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रानभि रक्षतादिमम्॥ १॥

१. हे **अग्ने**-अग्निकुण्ड में स्थापित होनेवाले अग्ने! तू **आयुर्दाः** हमें दीर्घायुष्य देनेवाला है। हमारे लिए **जरसम्**-पूर्ण जरा-अवस्था का **वृणानः**-वरण करनेवाला है। अग्निहोत्र करते हुए हम युवावस्था में ही समाप्त जीवनवाले नहीं हो जाते, अपितु हम जरावस्थापर्यन्त आयुष्य को प्राप्त करते हैं। २. हे अग्ने! तू **घृतप्रतीकः** घृत के मुखवाला है और **घृतपृष्ठः**-घृत की पृष्ठवाला है। अग्निहोत्र में आरम्भिक आहुतियाँ घृत की दी जाती हैं, अन्तिम आहुतियाँ भी घृत की ही होती हैं, बीच में अन्य हविर्द्रव्यों की आहुतियाँ होती हैं। ३. हे अग्ने! तू **मधु**-अत्यन्त मधुर **चारु**-सुन्दर **गव्यं घृतम्**-गौ के घृत को **पीत्वा**-पीकर **इमम्**-इस अग्निहोत्र करनेवाले को इसप्रकार **अभिरक्षतात्** शरीर व मानस व्याधियों व आधियों से सुरक्षित कर **इव**-जैसे **पिता पुत्रान्**-पिता पुत्रों का रक्षण करता है। गोघृत प्रबल कृमिनाशक है। इसके अग्निहोत्र से घर में रोग-कृमियों का रहना सम्भव नहीं रहता एवं यह गोघृत मनुष्य को नीरोग बनाता है।

भावार्थ—अग्निहोत्र में गोघृत का प्रयोग करें तो यह हमें सब रोगों से सुरक्षित करता है। रोगकृमियों का नाश करके यह हमें नीरोग बनाता है। अग्निहोत्र में आरम्भ में भी घृत की आहुतियाँ होती है और समाप्ति पर भी। बीच में अन्य हव्य पदार्थ डाले जाते हैं।

टिप्पणी—'**घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यम्**'—शब्द इस बात को भी स्पष्ट कर रहे हैं कि दीर्घायुष्य के लिए गोघृत का प्रयोग अत्यावश्यक है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वस्त्र

परि धत्त धत्त नो वर्चसेमं जरामृत्युं कृणुत दीर्घमायुः।
बृहस्पतिः प्रायच्छद्वास एतत्सोमाय राज्ञे परिधातवा उ॥ २॥

१. पूर्वमन्त्र में दीर्घायुष्य के लिए गोघृत के प्रयोग का विधान हुआ है। प्रस्तुत मन्त्र में उत्तम वस्त्र धारण का वर्णन है। वस्त्र भी दीर्घायुष्य के दृष्टिकोण से ही धारण करने चाहिएँ। **इमम्**-इस

बालक को **परिधत्त (परिधापयत)**=वस्त्र धारण कराओ। **नः**=हमारे इस सन्तान को **वर्चसा धत्त**-वर्चस् के दृष्टिकोण से वस्त्र धारण कराओ। वस्त्र इसप्रकार के होने चाहिएँ जो वर्चस् (शक्ति) के रक्षण में सहायक हों। इसप्रकार इस बालक के लिए **जरामृत्युम्**-भरपूर जरावस्था में होनेवाली मृत्यु से बचाओ तथा **दीर्घम् आयुः**-दीर्घ जीवन को **कृणुत**=करो। वस्त्र इसप्रकार के हों कि शक्ति के रक्षण के कारण दीर्घायुष्य देनेवाले हों। २. **बृहस्पतिः**=ज्ञानी आचार्य **सोमाय**-सौम्य स्वभाववाले **राज्ञे**=बड़े नियमित (Regulated) जीवनवाले विद्यार्थी के लिए **परिधातवे**=धारण करने के लिए **एतत् वासः**-इस वस्त्र को **उ**-निश्चय से **प्रायच्छत्**=देते हैं। आचार्य विद्यार्थी को 'किस प्रकार के वस्त्र पहने और किस प्रकार के नहीं' इस बात का अच्छी प्रकार से ज्ञान दे देते हैं। वस्त्रों को 'सोम राजा' के लिए देते हैं, इन शब्दों में यहाँ यह संकेत स्पष्ट है कि वस्त्रों से अभिमान न हो और साथ ही कार्यों को नियमितरूप से कर सकने में वे रुकावट न बनें। इसी को 'सौम्य व सरल वेश' कहते हैं। आचार्य विद्यार्थी का ऐसा ही वेश नियत करें और वह अपने अगले जीवन में इसी को अपनाने का प्रयत्न करे।

भावार्थ—वस्त्रों का मुख्योद्देश्य नीरोगता द्वारा शक्ति को स्थिर रखते हुए दीर्घायुष्य प्राप्त कराना है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गोपालन व क्रियाशील जीवन

परीदं वासो अधिथाः स्वस्तयेऽभूर्गृष्टीनामभिशस्तिपा उ।
शतं च जीव शरदः पुरूची रायश्च पोषमुपसंव्ययस्व॥ ३॥

१. आचार्य विद्यार्थी से कहते हैं कि **इदम् वासः**-इस वस्त्र को **स्वस्तये**-कल्याण के लिए **परि+अधिथाः**=धारण करनेवाला बन **उ**=और तू **गृष्टीनाम्**-एक बार ब्यायी गौओं का **अभिशस्तिपा**=हिंसा से रक्षण करनेवाला **अभूः**=हो। आचार्य जहाँ विद्यार्थी को ज्ञान देता है, वहाँ सौम्य तथा स्वास्थ्यजनक वेश को धारण करने का तथा गोपालन का भी निर्देश करता है। २. **च**=और इसप्रकार तू **शतं शरदः**-सौ वर्षपर्यन्त **जीव**=जीनेवाला हो **च**=तथा **रायः पोषम्**-धन के पोषण को **उपसंव्ययस्व**=धारण कर। ये सौ शरद् ऋतुएँ तेरे लिए **पुरूचीः**=(पुरु अञ्च) व्यापक गतिवाली हों। तू खूब क्रियाशील बना रहे, खाट पर लेटकर जीवन के दिन न काटे। इस क्रियाशीलता के द्वारा ही तू धन का अर्जन करनेवाला हो।

भावार्थ—हमारे वस्त्र कल्याणकर हों। हम गौओं का पालन करें। क्रियाशील दीर्घजीवन में दरिद्रता से दूर रहें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पाषाणवत् दृढ़ शरीर

एह्यश्मानमा तिष्ठाश्मा भवतु ते तनूः। कृण्वन्तु विश्वेदेवा आयुष्टे शरदः शतम्॥ ४॥

१. आचार्य ब्रह्मचारी से कहते हैं—**एहि**-आओ, **अश्मानम् आतिष्ठि**-इस पाषाण पर स्थित होओ। **ते तनूः**-तेरा शरीर **अश्मा भवतु**=पाषाण जैसा ही दृढ़ बन जाए। इस पाषाण से प्रेरणा लेकर अपने शरीर को इसीप्रकार दृढ़ बनाने का तेरा संकल्प हो। २. **विश्वेदेवाः**=सब देव **ते आयुः**=तेरे जीवन को **शतं शरदः**-सौ शरद् ऋतुओं तक चलनेवाला **कृण्वन्तु**-करें। सूर्य आदि देवों के सम्पर्क में रहता हुआ तू सदा स्वस्थ हो तथा दिव्य गुण तेरे मन को सब आयुष्य-विघातक भावों से रहित करनेवाले हों।

भावार्थ—दीर्घ जीवन के लिए आवश्यक है कि हम (क) शरीर को दृढ़ बनाने की भावनावाले हों। (ख) सूर्यादि देवों के सम्पर्क में जीवन बिताएँ, (ग)दिव्य गुणों को मन में स्थान दें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥

कई भाई

यस्य॑ ते॒ वास॑: प्रथमवा॒स्यं॑१॒ हरा॑म॒स्तं त्वा॒ विश्वे॑ऽवन्तु दे॒वाः।
तं त्वा॒ भ्रात॑रः सु॒वृधा॒ वर्ध॑मान॒मनु॑ जायन्तां ब॒हव॑: सुजा॒तम्॥ ५॥

१. **यस्य ते** जिस तेरे **प्रथमवास्यम्**-धारण करने योग्यों में प्रथम, अर्थात् उत्तम **वासः** वस्त्र को **हरामः** प्राप्त करते हैं, **तं त्वा**-उस तुझको **विश्वेदेवाः**-सब देव **अवन्तु**-रक्षित करें। वस्त्र उत्तम हों, दीर्घायु के लिए किसी भी प्रकार से विघातक न हों। सूर्य किरणों के प्रभाव को व वायु प्रवेश को एकदम रोक देनेवाले न हों। २. **सुजातम्** इसप्रकार उत्तम विकासवाले **वर्धमानम्**-दिन प्रतिदिन बढ़ते हुए **तं त्वा अनु**-उस तेरे पश्चात् **सुवृधा**-उत्तम वृद्धिवाले **बहवः**-बहुत **भ्रातरः**-भाई **जायन्ताम्** उत्पन्न हों। जब प्रथम बालक का ठीक विकास हो जाए तभी दूसरे बालक का उत्पन्न होना ठीक है। 'सुजातम् अनु' शब्दों से यह भाव बहुत अच्छी प्रकार संकेतित हो रहा है।

भावार्थ—वस्त्र इसप्रकार के हों कि सूर्यादि देवों के साथ निरन्तर सम्पर्क बना रहे। ऐसे ही वस्त्र स्वास्थ्य वर्धक होते हैं।

विशेष—सूक्त के प्रथम मन्त्र में गोघृत से अग्निहोत्र का विधान है, इसप्रकार गोघृत को दीर्घायुष्य के लिए आवश्यक बताया है। द्वितीय मन्त्र में 'सौम्य वेश' का संकेत है। तृतीय मन्त्र में गोपालन व क्रियाशीलता द्वारा धनार्जन को दीर्घ जीवन का साधक बताया गया है। चतुर्थ मन्त्र में शरीर को पाषाणतुल्य दृढ बनाने का उपदेश है। पाँचवें मन्त्र में सब देवों की अनुकूलता की प्रार्थना करके दो सन्तानों के बीच में कम से-कम तीन-चार वर्ष का अन्तर होना आवश्यक बताया गया है। अब अगले सूक्त में घर को, आनेवाली आपत्तियों से, बचाने के उपायों का निर्देश है। इन विपत्तियों का नष्ट करनेवाला 'चातन' ही सूक्त का ऋषि है 'चातयति नाशयति'। यह संकल्प करता है कि—

१४. [चतुर्दशं सूक्तम्]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निभूतपतीन्द्रा मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पत्नी पर घर का निर्भर

नि॒:सा॒लां धृ॒ष्णुं धि॒षण॑मेकवा॒द्यां जि॑घ॒त्स्व॑म्।
सर्वा॒श्चण्ड॑स्य न॒प्त्यो॒ ना॒शया॑मः स॒दान्वा॑:॥ १॥

१. घर का बनना बहुत कुछ पत्नी पर निर्भर करता है। 'गृहिणी गृहमुच्यते' वस्तुतः गृहिणी ही घर है, अतः गृहिणी में जो जो दोष सम्भव हैं उन सबका संकेत करते हुए कहते हैं कि निम्न दोषों से युक्त पत्नी तो पत्नी नहीं है, वह तो पिशाची है, उसे हम घर से **नाशयामः** (णश अदर्शने) दूर करते हैं। (क) **निःसालाम्**=(निःसालयति निर्गमयति अपसारयति सा०) जो लड़ झगड़कर बन्धुओं को घर से दूर करती है। पति के भाई आदि के साथ विरोध करके उनकी फूट का कारण बनती है अथवा 'सालात् निर्गता' सालवृक्ष से भी उन्नत शरीरवाली, अर्थात् बहुत बड़े आकारवाली है। (ख) **धृष्णुम्**-धर्षणशील है, भय उत्पन्न करनेवाली है, (ग)

धिषणम्=(धृष्णोति धृषेर्धिष च संज्ञायाम्) बड़ों का निरादर करनेवाली है। 'बड़ों का निरादर करना' घर के अमङ्गल का हेतु होता है, (घ) **एकवाद्याम्**=(एकप्रकारं परषरूपं वाद्यं वचनं यस्याः) कठोर बोलनेवाली व एक ही बात की रट लगानेवाली—जिद्दी स्वभाव की है,(ङ) **जिघत्स्वम्**-सर्वदा भक्षणशीला है, (च) और जो **सर्वाः**=सब **चण्डस्य नप्त्यः**-क्रोध की सन्तान है, अर्थात् क्रोध से भरी हुई है,(छ) **सदान्वाः**=(सदा नोनूयामानाः, आक्रोशकारिणीः) सदा बोलती ही रहती है। २. वस्तुतः पत्नी का आदर्श यही है कि (क) वह घर में सबके साथ मधुर व्यवहार करनेवाली हो तथा बहुत लम्बे कद की न हो (ख)अपने व्यवहार और शब्दों से भय पैदा न करे, प्रेम का वातावरण रक्खे, (ग) बड़ों का निरादर न करे (घ) कठोर न बोले, न जिद्दी हो, (ङ) सबको खिलाकर खाये, उसमें चटोरापन न हो, (च) क्रोधी स्वभाव की न होकर प्रसन्न स्वभाववाली हो, (छ) बहुत न बोलती हो, सदा नपे-तुले शब्दों का ही प्रयोग करती हो, ऐसी ही पत्नी घर का सुन्दर निर्माण कर पाती है। इसके विपरीत तो घर के विनाश का ही कारण बनती है। वह गृहिणी नहीं, पिशाचनी होती है। वह पति के भी अल्पायुष्य का कारण बनती है।

भावार्थ—पत्नी उत्तम है तो घर बनता है। पत्नी के दोष से घर का विनाश होता है।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निभूतपतीन्द्रा मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

गोष्ठ, अक्ष, उपानस व गृहों से अलग

निर्वो॑ गो॒ष्ठाद॑जामसि॒ निर॒क्षान्निरु॑पान॒सात्।
निर्वो॑ मगुन्द्या दुहितरो गृहेभ्य॑श्चातयामहे॥ २॥

१. गतमन्त्र में स्त्री-दोषों का चित्रण हुआ है। उन दोषों से युक्त स्त्रियों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि **वः**-तुम्हें **गोष्ठात्**=गोष्ठ से **निःअजामसि**=बाहर करते हैं। गोष्ठ शब्द का अर्थ पारिवारिक सम्बन्ध (Family connection) है। ऐसी स्त्रियों के साथ पारिवारिक सम्बन्ध नहीं रखने चाहिएँ। २. **अक्षात्**-अक्ष से तुम्हें **निः**=पृथक् करते हैं। अक्ष शब्द का अर्थ 'ज्ञान' (knowledge) है। ३. **उपानसात्**-उपानस से **निः**=इन्हें पृथक् करते हैं। 'उपानस्' का अर्थ है—गाड़ी में होनेवाला स्थान (The Space in a carriage)। इस स्थान से इन्हें पृथक् करते हैं, अर्थात् इनके साथ गाड़ी में यात्रा नहीं करते हैं। ४. 'मन्' धातु से 'उ' प्रत्यय करके 'म' शब्द बनता है। इसप्रकार 'म' का अर्थ ज्ञान है। यहाँ ज्ञान से उत्पन्न होनेवाले आनन्द को 'म' कहा गया है। उस सब 'मम्' आनन्द (Happiness) को जो 'मुन्द्रयति' झुठला देती है, समाप्त कर देती है वह 'मगुंद्री' है। इसपर बल देन के लिए मगुन्द्री की दुहिता(आनन्द को नष्ट करने-वाली की बच्ची) इन शब्दों का प्रयोग हुआ है। ये **मगुन्द्याः दुहितरः**-ज्ञानजनित आनन्द को बुरी तरह नष्ट करनेवाली स्त्रियो! **वः**=तुम्हें **गृहेभ्यः**-घरों से **निःचातयामहे**=बाहर विनष्ट करते हैं।

भावार्थ—गतमन्त्र में वर्णित दोषोंवाली स्त्रियों के साथ पारिवारिक सम्बन्ध स्थापित न किये जाएँ, उन्हें ज्ञान-चर्चाओं से पृथक् रक्खा जाए। उनके साथ गाड़ी में यात्रा न की जाए और इन ज्ञानविरोधिनी स्त्रियों को घरों से पृथक् ही रक्खा जाए।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निभूतपतीन्द्रा मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अरायी, सेदि, यातुधानी

अ॒सौ यो अ॑ध॒राद् गृ॒हस्तत्र॑ सन्त्वरा॒य्य॑ः।
तत्र॑ से॒दिर्न्यु॑च्यतु॒ सर्वा॑श्च यातुधा॒न्य॑ः॥ ३॥

१. **असौ**-वह **यः**-जो **अधरात् गृहः**-नीचे पाताल में घर है **तत्र** वहाँ **अराय्यः**-न देने की वृत्तिवाली गृहिणियाँ **सन्तु**-हों। 'न देना' यह यज्ञ न करने का उपलक्षण है। यज्ञ में 'दान' है। 'न देना' यज्ञ से दूर होना है। यज्ञ से स्वर्गलोक मिलता है तो अयज्ञ से पाताललोक (असुर्य-लोक)। २. **तत्र**-वहाँ असुर्यलोक में ही **सेदिः**-(सादयति नाशयति इति सेदिः) नाश की वृत्तिवाली, औरों के कार्यों को ध्वस्त करनेवाली स्त्री का **न्युच्यतु**-निश्चय से समवाय हो—सम्बन्ध हो। यह सेदि भी उसी असुर्यलोक में निवास करे। ३. **च** और **सर्वाः** सब **यातुधान्यः**-पीड़ा का आधान करनेवाली स्त्रियाँ भी वहीं असुर्यलोक में निवास करें।

भावार्थ—अदान की वृत्ति, ध्वंस व नाश की वृत्ति तथा पीड़ा देने की वृत्ति—ये सब हमें असुर्यलोक में ले-जानेवाली होती हैं।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निभूतपतीन्द्रा मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्विराड्बृहती** ॥

वाग्दोष का दूरीकरण

भूतपतिर्निरजत्विन्द्रश्चेतः सदान्वाः।
गृहस्य बुध्न आसीनास्ता इन्द्रो वज्रेणाधि तिष्ठतु॥ ४॥

१. **भूतपतिः** सब प्राणियों का रक्षक **च**-वह **इन्द्रः**-(इरां दृणाति) भूमि का, भौतिक भोगों का विदारक देव इन्द्र **सदान्वाः**=(सदा नोनूयमाना आक्रोशकारिणीः) सदा चिल्लाने व अपशब्द बोलनेवाली इन स्त्रियों को **इतः**-यहाँ—मेरे घर से **निरजतु** बाहर क्षिप्त करे। मेरे घर से इनका सम्बन्ध न हो। २. **गृहस्य**-घर के **बुध्ने**-मूल में **आसीनाः** बैठी हुई **ताः**-उनको **इन्द्रः**-जितेन्द्रिय पुरुष **वज्रेण**=क्रियाशीलता रूप वज्र से **अधितिष्ठतु**=अधिष्ठित करे। घर का आधार गृहिणियाँ ही होती हैं, इसी से उन्हें 'घर के आधार में बैठी हुई' कहा गया है। इनमें दोष दो कारणों से उत्पन्न होते हैं—(क) एक तो पुरुष की अजितेन्द्रिता से और (ख) दूसरे अकर्मण्यता से। 'इन्द्र' शब्द प्रथम कारण का निराकरण करता है और 'वज्रेण' दूसरे कारण का। पुरुष जितेन्द्रिय हो तथा स्त्रियों को अकर्मण्य न होने दे तो स्त्रियाँ व्यर्थ की बातों से ऊपर उठ जाती हैं।

भावार्थ—पुरुष जितेन्द्रिय बनकर स्त्रियों को कार्य में रत रखने से उनके वाग्दोषों को दूर कर पाता है।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निभूतपतीन्द्रा मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आक्रोशकारिणी का विनाश

यदि स्थ क्षैत्रियाणां यदि वा पुरुषेषिताः।
यदि स्थ दस्युभ्यो जाता नश्यतेतः सदान्वाः॥ ५॥

१. हे **सदान्वाः** (सदा नोनूयमानाः) सदा अपशब्द बोलनेवाली स्त्रियो! **इतः**-यहाँ से—हमारे घर से **नश्यतः** तुम अदृष्ट हो जाओ। **यदि**-चाहे तुम **क्षेत्रियाणाम् स्थ** क्षेत्रिय रोगों की निदानभूत हो, **यदि वा** अथवा **पुरुष इषिताः** किसी अन्य पुरुष से व्यर्थ की चुग़लियों से उत्तेजित (excited, animated) कर दी गई हो। अथवा **यदि**-यदि तुम **दस्युभ्यः जाताः**-नाशक वृत्तियों से ऐसी बन गई हो। २. स्त्रियों में आक्रोश वृत्ति पैदा होने के तीन कारण हैं—(क) कोई क्षेत्रिय रोग, (ख) किसी पुरुष से भड़काया जाना, (ग) कोई बड़ी हानि हो जाना (दस्यु)। किसी भी कारण से यह दोष उत्पन्न हो जाए तो उस स्त्री का दूर होना ही ठीक है।

भावार्थ—आक्रोशकारिणी स्त्री का घर से दूर होना ही ठीक है।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निभूतपतीन्द्रा मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

संग्राम-विजय

परि धामान्यासामाशुर्गाष्ठामिवासरम्। अजैषं सर्वानाजीन्वो नश्यतेतः सदान्वाः ॥ ६ ॥

१. **इव**=जैसे **आशुः**=शीघ्रगामी अश्व **गाष्ठाम्**-(परिधावनेन ग्लानः सन् यत्र तिष्ठति सा **गाष्ठाः**=आज्यन्तः काष्ठाः) लक्ष्य स्थान पर पहुँचता है, इसीप्रकार मैं **आसाम्**=इन आक्रोशकारिणी स्त्रियों के **धामानि**-तेजों को **परि असरम्**=आक्रान्त करता हूँ। हे आक्रोश करनेवाली स्त्रियो! **वः**=तुम्हारे **सर्वान् आजीन्**-सब संग्रामों को **अजैषम्**-मैं जीतता हूँ—तुम्हें पराजित करता हूँ, अतः हे **सदान्वाः**=सदा आक्रोशकारिणी स्त्रियो! **इतः**=यहाँ से **नश्यत**=नष्ट हो जाओ। पुरुषों को चाहिए कि स्त्रियों की इस आक्रोशवृत्ति को नष्ट करने के लिए तेजस्विता से उन्हें प्रभावित करने का प्रयत्न करें। २. स्त्री का सबसे बड़ा दोष 'सदा बोलते रहना व कठोर बोलना है, अतः इनके इन दोषों को दूर करना आवश्यक है।

भावार्थ—पति पत्नी के आक्रोश को अपनी तेजस्विता से दूर करे। इसप्रकार गृहदोषों को दूर करनेवाला 'चातन' बने।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त गृहिणी के दोषा से घर के दूषण का चित्रण करके गृहिणी के दोषों को दूर करने पर बल देता है। दोषों को दूर करके अपनी उन्नति करनेवाला 'ब्रह्मा' (वृहि वृद्धौ) अगले सूक्तों का ऋषि है। यह सर्वप्रथम अभय की प्रार्थना करता है। दोषयुक्त जीवन में ही भय है, निर्दोष जीवन निर्भय है, अतः दोषों का नाश करनेवाला 'चातन' अब वृद्धि को प्राप्त करके 'ब्रह्मा' हो जाता है और प्रार्थना करता है—

१५. [पञ्चदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**त्रिपाद्गायत्री** ॥

द्युलोक और पृथिवीलोक

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ १ ॥

१. **यथा**=जैसे **द्यौः च पृथिवी च**=द्युलोक और पृथिवीलोक **न बिभीतः**=भयभीत नहीं होते और अतएव **न रिष्यतः**-हिंसित नहीं होते। **एव**=इसीप्रकार **मे प्राण**=हे मेरे प्राण! तू भी **मा**=मत **बिभेः**-डर। २. द्युलोक वृष्टि के द्वारा पृथिवी का पोषण करता है और पृथिवी पदार्थों को द्युलोक में भेजती है। ये दोनों लोक इसीप्रकार परस्पर सम्बद्ध हैं, जैसे शरीर में 'मस्तिष्क और शरीर'। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क का निवास होता है और मस्तिष्क का स्वास्थ्य शरीर को स्वस्थ बनाये रखता है। जैसे एक घर में बच्चों के माता-पिता का परस्पर सम्बन्ध है, उसी प्रकार द्युलोक 'पिता' है और पृथिवी माता। मस्तिष्क व शरीर के समन्वय से जीवन उत्तम बनता है। माता-पिता के समन्वय में सन्तान सुन्दर होती है। इसीप्रकार द्युलोक व पृथिवी लोक के सम्मिलित होकर कार्य करने पर दुर्भिक्ष आदि का भय नहीं रहता। मिले हुए द्युलोक व पृथिवीलोक हिंसित नहीं होते। ३. जिस प्रकार मिले हुए द्युलोक व पृथिवीलोक भयरहित व अंहिसित हैं, इसीप्रकार मेरा प्राण भी निर्भय व अहिंसित हो। भय में ही हिंसा है। भय शरीर को विध्वस्त करता हुआ मस्तिष्क को भी समाप्त कर देता है।

भावार्थ—मेरा प्राण 'द्युलोक व पृथिवीलोक' की भाँति निर्भय हो।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—प्राणः ॥ छन्दः—त्रिपाद्गायत्री ॥

दिन और रात

यथाहश्च रात्री च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ २ ॥

१. **यथा** जैसे **अहः च रात्री च**-दिन और रात **न बिभीतः**-नहीं डरते हैं और परिणामतः **न रिष्यतः**-न ही हिंसित होते हैं, **एव**-इसीप्रकार **मे प्राण** हे मेरे प्राण! **मा बिभेः**-तू भयभीत मत हो। २. दिन और रात्रि परस्पर सम्बद्ध हैं। दिन का सूर्य अस्त होता हुआ रात्रि के समय अपने प्रकाश को अग्नि में रख देता है और दिन का प्रारम्भ होने पर अग्नि अपने प्रकाश को पुनः सूर्य को लौटा देती है। इसप्रकार परस्पर सम्बद्ध ये दिन रात निर्भय व अहिंसित हैं। दिन में जितना अधिक श्रम किया जाए, रात्रि उतनी ही अधिक रमयित्री हो जाती है। दिन 'अहन्' हो। इसका एक क्षण भी **हत**=विनष्ट न किया जाए तो रात्रि सुषुप्ति का आनन्द देती है। रात्रि में नींद ठीक आ जाए तो दिन में मनुष्य जागृति के साथ कार्य करता है एवं परस्पर सम्बद्ध ये दिन और रात निर्भय व अहिंसित हैं। हमारा प्राण भी इसीप्रकार निर्भय व अहिंसित हो। ३. हम दिन व रात्रि के सम्बन्ध का ध्यान रखते हुए अपने प्राण को दिन व रात्रि की सन्धिवेला में वशीभूत करने का प्रयत्न करें। ऐसा करने से यह प्राण निर्भय और अहिंसित होगा।

भावार्थ—हम दिन व रात्रि के गुणों को धारण करते हुए निर्भय व अहिंसित जीवनवाले बनें।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—प्राणः ॥ छन्दः—त्रिपाद्गायत्री ॥

सूर्य और चन्द्र

यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ३ ॥

१. **यथा**-जैसे **सूर्यः च चन्द्रः च**-सूर्य और चाँद अपने मार्ग पर चलते हुए **न बिभीतः**-न भयभीत होते हैं और **न रिष्यतः** न हिंसित होते हैं, **एव**-इसीप्रकार **मे प्राण** हे मेरे प्राण! **मा बिभेः** तू भयभीत मत हो। २. सूर्य और चन्द्र परस्पर सम्बद्ध होकर चलते हैं, उसी प्रकार जैसेकि दिन और रात मिलकर चलते हैं। नासिका का बायाँ स्वर 'चन्द्र स्वर' कहलाता है और दायाँ स्वर 'सूर्य स्वर' कहलाता है। जिस प्रकार इनका परस्पर सम्बन्ध है, उसी प्रकार सूर्य व चन्द्र का सम्बन्ध है। सूर्य की किरण ही तो चन्द्र को प्रकाशित करती है। सूर्य ओषधियों का परिपाक करता है और चन्द्र उनमें रस का सञ्चार करता है। सूर्य सब वनस्पतियों में अग्नितत्त्व की स्थापना करता है और चन्द्रमा सोमतत्त्व की। इसप्रकार सूर्य और चन्द्र मिलकर पूर्णता पैदा करते हैं। ३. मेरे प्राण भी सूर्य व चन्द्रतत्त्वों को अपने में बढ़ाते हुए निर्भय व अहिंसित हों। केवल सूर्य जगत् को झुलसा देता, केवल चन्द्र जमा देता। दोनों का समन्वय संसार की ठीक गति का कारण है। मेरा जीवन भी इन दोनों तत्त्वों के मेलवाला हो।

भावार्थ—जीवन में सूर्यतत्त्व व चन्द्रतत्त्व के समन्वय से हम निर्भय व अहिंसित हों।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—प्राणः ॥ छन्दः—त्रिपाद्गायत्री ॥

ब्रह्म और क्षत्र

यथा ब्रह्म च क्षत्रं च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ४ ॥

१. **यथा** जैसे **ब्रह्म च क्षत्रं च**-ज्ञान और बल परस्पर मिले हुए **न बिभीतः**-न भयभीत होते हैं और **न**-न ही **रिष्यतः**-हिंसित होते हैं, **एव**-इसीप्रकार **मे प्राण**-हे मेरे प्राण! तू **मा बिभेः** भयभीत मत हो। २. एक राष्ट्र में ब्राह्मणों व क्षत्रियों का समन्वय आवश्यक है। केवल

ब्राह्मणोंवाला राज्य सुरक्षित नहीं होता और केवल क्षत्रियोंवाला राज्य कभी उन्नत नहीं हो पाता—आपस के झगड़ों से ही वह समाप्त हो जाता है। शरीर में जैसे ज्ञान व बल दोनों की आवश्यकता है, उसी प्रकार राष्ट्र में ब्राह्मणों व क्षत्रियों की उपयोगिता है। ३. हम अपने जीवनों में ब्राह्मणत्व व क्षत्रियत्व दोनों का समन्वय करके निर्भय बनें और अहिंसित हों।

भावार्थ—निर्भयता व अहिंस्यता के लिए ब्राह्मणत्व व क्षत्रित्व का मेल आवश्यक है। क्षत्र व बल द्वारा हम कर्म करते हैं तो ब्रह्म व ज्ञान उन कर्मों को पवित्र कर देता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**त्रिपाद्गायत्री** ॥

सत्य और अनृत (कृषि)

यथा॑ स॒त्यं चानृ॑तं च॒ न बि॑भी॒तो न रिष्य॑तः। ए॒वा मे॑ प्राण॒ मा बि॑भेः ॥ ५ ॥

१. **यथा**-जैसे **सत्यं च अनृतं च**=सत्य और अनृत अर्थात् कृषि **न बिभीतः**-न तो डरते हैं और **न रिष्यतः**=न हिंसित होते हैं। **एव**=इसीप्रकार **मे प्राण**=हे मेरे प्राण! **मा बिभेः** तू भयभीत मत हो। २. पूर्व मन्त्रों में 'द्युलोक व पृथिवीलोक' परस्पर विरोधी न होकर एक-दूसरे के पूरक हैं। इसीप्रकार 'दिन और रात','सूर्य और चन्द्र' तथा 'ब्रह्म और क्षत्र' परस्पर अविरुद्ध हैं। यहाँ भी सत्य और अनृत अविरोधी ही लेने चाहिएँ, अतः 'अनृत' शब्द यहाँ असत्य-झूठ का वाचक न होकर 'कृषि' का वाचक है—(अनृतं कृषिः-कोश)। ये सत्य और कृषि न भयभीत होते हैं और न हिंसित होते हैं। कृषि में श्रम है—प्रकृति के साथ सम्पर्क है। इसमें यथासम्भव सत्यपूर्वक ही आजीविका चलती है। मन में सत्य है तो हाथों में अनृत=कृषि है। सत्य का पालन करनेवाला कृषि द्वारा ही जीविका प्राप्त करने का ध्यान करता है। इसमें वह दूसरों की हानि न करके जीवन यात्रा चलाता है। ३. हम अपने जीवन में सत्य और कृषि को अपनाकर निर्भय व अहिंसित बनें।

भावार्थ—निर्भय जीवन के लिए मन में सत्य हो और हाथों में श्रम।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**त्रिपाद्गायत्री** ॥

भूत और भव्य

यथा॑ भू॒तं च॒ भव्यं॑ च॒ न बि॑भी॒तो न रिष्य॑तः। ए॒वा मे॑ प्राण॒ मा बि॑भेः ॥ ६ ॥

१. **यथा**=जैसे **भूतं च भव्यं च**=भूत और भविष्यत् **न बिभीतः**=न डरते हैं और **न रिष्यतः**-न हिंसित होते हैं, **एव**=इसीप्रकार **मे प्राण**=हे मेरे प्राण! तू भी **मा बिभेः**=भयभीत न हो। २. 'भूत' समाप्त हो चुका है, 'भविष्यत्' अभी है ही नहीं, अतः इन दोनों में भय का निवास न होकर, इसका सदा वर्त्तमान में ही निवास होता है। वस्तुतः जो व्यक्ति भूत का विचार करके उससे शिक्षा ग्रहण करता हुआ भविष्यत् का कार्य-क्रम निर्धारित करता है, उसे वर्त्तमान में कभी भयभीत नहीं होना पड़ता। 'भूत' से सीखना, 'भविष्य' के लिए दृढ़ संकल्प करना ही निर्भयता व अहिंस्यता का रहस्य है। ३. इसप्रकार हम अपने वर्त्तमान को भूत और भविष्य से जोड़कर चलेंगे तो भय से बचे रहेंगे।

भावार्थ—हम भूत से भविष्यत् का निर्माण करनेवाले बनें। भूत से शिक्षा लेकर वर्त्तमान में सन्मार्ग का आक्रमण करते हुए भविष्य को उज्ज्वल बनाएँ।

विशेष—सारा सूक्त बड़ी सुन्दरता से निर्भयता व अहिंस्यता के साधनों का उपदेश करके उत्तम जीवन का मार्ग दिखला रहा है। अगले सूक्त में भी इस उत्तम जीवन का चित्रण है—

१६. [षोडषं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**प्राणापानौ** ॥ छन्दः—**एकपदासुरीऽऽत्रिष्टुप्** ॥

दीर्घजीवन

प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं स्वाहा ॥ १ ॥

१. **प्राणापानौ**-हे प्राण और अपान! (प्राक् ऊर्ध्वमुखः अनिति चेष्टत इति प्राणः, अप आवङ्मुखः अनिति इति अपानः) आप दोनों **मा**-मुझे **मृत्योः**-मृत्यु से **पातम्** बचाओ। 'अपान' दोषों को दूर करता है और प्राण शक्ति का सञ्चार करता है। इसप्रकार प्राणापान की क्रिया से हम मृत्यु का शिकार नहीं होते। २. **स्वाहा**-'स्वा वाग् आह' (तै० २.१.२.३)। मेरी वाणी सदा यही प्रार्थना करनेवाली हो। मैं सदा अपने को इसीप्रकार आत्मप्रेरणा दूँ कि प्राणापान कि शक्ति के वर्धन से मैं मृत्यु को अपने से दूर रक्खूँगा।

भावार्थ—प्राणापान की शक्ति के वर्धन से हम दीर्घजीवी बनें। ये प्राण और अपान हमें मृत्यु व रोगों से बचाते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**द्यावापृथिवी** ॥ छन्दः—**एकपदाऽऽसुर्युष्णिक्** ॥

श्रवणशक्ति

द्यावापृथिवी उपश्रुत्या मा पातं स्वाहा ॥ २ ॥

१. **द्यावापृथिवी**-(द्यावापृथिवीशब्देन तदन्तरालवर्तिन्यो दिशो विवक्षिताः—सा०) हे द्युलोक व पृथिवीलोक के अन्तराल में वर्तमान दिशाओ! आप **उपश्रुत्या**=श्रवण-शक्ति प्रदान से **मा पातम्** मेरे जीवन का रक्षण करो। इस श्रवण से ही तो मैं अपने ज्ञान का वर्धन करता हुआ सुन्दर व दीर्घजीवन को सिद्ध कर पाऊँगा। २. **स्वाहा** मेरी वाणी सदा यही उच्चारण करती है कि दिशाएँ मेरी श्रोत्रशक्ति का वर्धन करनेवाली हों। 'दिशः श्रोत्रे भूत्वा कर्णौ प्राविशन्'—ये दिशाएँ श्रोत्र बनकर मेरे कानों में निवास करें।

भावार्थ—श्रोत्रशक्ति का वर्धन करता हुआ मैं सुन्दर व दीर्घजीवनवाला बनूँ। मैं दिशाओं के निर्देश को भी सनूँ। प्राची के निर्देश को सुनकर आगे बढ़ूँ, दक्षिणा से सरलता का पाठ पढ़ूँ। प्रतीची मुझे प्रत्याहार का पाठ पढ़ाए और उदीची के अनुसार मैं ऊँचा उठूँ।

ऋषिः -**ब्रह्मा** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**एकपदाऽऽसुरीत्रिष्टुप्** ॥

दर्शनशक्ति

सूर्य चक्षुषा मा पाहि स्वाहा ॥ ३ ॥

१. **सूर्य**-हे सूर्य! **चक्षुषा** दर्शनशक्ति के द्वारा **मा पाहि**-तू मेरा रक्षण कर। '**सूर्यश्चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्**'—सूर्य चक्षु बनकर मेरी आँखों में निवास करनेवाला हो। इस दर्शनशक्ति से प्रकृति में प्रभु महिमा को देखता हुआ मैं आत्मज्ञान को प्राप्त करनेवाला बनूँ। २. **स्वाहा**-मेरी वाणी इस बात को बारम्बार कहनेवाली हो। इसका जप करता हुआ मैं आत्मप्रेरणा प्राप्त करूँ और दर्शनशक्ति को बढ़ाकर अशुभ मार्ग से बचकर शुभ मार्ग पर चलूँ। यही रक्षा का मार्ग है।

भावार्थ—मैं सूर्य की भाँति व्यापक दृष्टिवाला बनूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽसुरीगायत्री** ॥

सब दिव्य गुण

अग्ने वैश्वानर विश्वैर्मा देवैः पाहि स्वाहा ॥ ४ ॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी **वैश्वानर**=(विश्वान् नरान् नयति) सबके सञ्चालक प्रभो! **मा**=मुझे **विश्वैः देवैः**-सब दिव्य गुणों को प्राप्त कराके **पाहि**=रक्षित कीजिए। वस्तुतः प्रभु स्मरण से सब दिव्य गुणों की प्राप्ति होती है। २. **स्वाहा**=मेरी वाणी सदा यही प्रार्थना करे। इसी जप को करता हुआ इसी बात को मैं अपने जीवन में घटानेवाला बनूँ। महादेव का स्मरण करता हुआ सब देवों को प्राप्त करने का अधिकारी बनूँ।

भावार्थ—प्रभु अग्नि है, वैश्वानर हैं। वे मुझे आगे ले-चलते हुए सब दिव्य गुणों से युक्त करेंगे।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**विश्वम्भरः** ॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽसुरीगायत्री** ॥

पोषणशक्ति

विश्वम्भर विश्वेन मा भरसा पाहि स्वाहा ॥ ५ ॥

१. हे **विश्वम्भर**-सारे विश्व का भरण-पोषण करनेवाले प्रभो! **मा**-मुझे **विश्वेन भरसा**-सम्पूर्ण पोषणशक्ति के द्वारा **पाहि**-रक्षित कीजिए। **स्वाहा**=यह मेरी उत्तम वाणी हो। इन उत्तम शब्दों में याचना करता हुआ मैं अङ्ग प्रत्यङ्ग की पोषण शक्तिवाला होऊँ। २. प्रभु को 'विश्वम्भर' नाम से स्मरण करता हुआ मैं शरीर, मन व बुद्धि सभी का ठीक से भरण-पोषण करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—प्रभु विश्वम्भर हैं। मैं भी विश्वम्भर बनूँ। अपनी सब शक्तियों का पोषण करता हुआ सभी का भरण करनेवाला बनूँ।

विशेष—सूक्त में उत्तम जीवन का चित्रण इस रूप में हुआ है कि जिसमें रोग नहीं, दर्शनशक्ति व श्रवणशक्ति ठीक है, मन दिव्य गुणों से युक्त है और सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग शक्तिसम्पन्न हैं, वही उत्तम जीवन है। ऐसे जीवन के लिए ही अगले सूक्त में प्रार्थना है—

१७. [सप्तदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ओजः प्रभृतीनि** ॥ छन्दः—**एकपदाऽऽसुरीत्रिष्टुप्** ॥

ओजस्

ओजोऽस्योजो मे दाः स्वाहा ॥ १ ॥

१. गतसूक्त के अन्तिम मन्त्र में प्रभु को 'विश्वम्भर' कहा था—सब शक्तियों का भरण करनेवाला। उस विश्वम्भर से प्रार्थना करते हैं कि—**ओजः असि**-आप ओज हो, **मे**-मेरे लिए भी **ओजः दाः**=इस ओज को दीजिए। **स्वाहा**-(सु+आह) मेरी वाणी सदा यही शुभ प्रार्थना करनेवाली हो। २. 'ओजस्' वह शक्ति है जो सब प्रकार की वृद्धि का कारण बनती है (ओज् to increase)। इस ओज को प्राप्त करके मैं वृद्धि के मार्ग पर आगे बढ़ूँ।

भावार्थ—प्रभु ओज के पुञ्ज हैं। मैं भी प्रभु को इस रूप में स्मरण करता हुआ ओजस्वी बनूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ओजः प्रभृतीनि** ॥ छन्दः—**एकपदाऽऽसुरीत्रिष्टुप्** ॥

सहस्

सहोऽसि सहो मे दाः स्वाहा ॥ २ ॥

१. हे प्रभो! आप **सहःअसि**=सहस् शक्ति के पुञ्ज हो। **मे**=मेरे लिए **सहः**-सहनशक्ति **दाः**-दीजिए। **स्वाहा**=मेरे मुख से सदा इन शुभ शब्दों का ही उच्चारण हो। २. ओजस् के होने पर मनुष्य सहस्वाला बनता है, इसीलिए ओज के बाद सहस् की प्रार्थना है। ओज की कमी

होने पर मनुष्य में सहनशक्ति भी नहीं रहती। इस सहनशक्ति के होने पर ही वास्तविक आनन्द का अनुभव होता है।

भावार्थ—प्रभु 'सहस्' हैं। मैं भी 'सहस्'-वाला बनकर प्रभु का सच्चा भक्त बनूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ओजः प्रभृतीनि** ॥ छन्दः—**एकपदाऽऽसुरीत्रिष्टुप्** ॥

बल

बल॑मसि॒ बलं॑ मे दाः॒ स्वाहा॑ ॥ ३ ॥

१. प्रभो! **बलम् असि**-आप बलस्वरूप हैं। **मे**-मेरे लिए **बलं दाः** बल प्रदान कीजिए। **स्वाहा** मेरी वाणी सदा यही शुभ प्रार्थना करनेवाली हो। २. सहनशक्ति मन को बलवान् बनाती है। सहन के अभाव में मनुष्य की शक्ति दग्ध हो जाती है। मनुष्य इस मानस बल के अनुपात में ही रोगादि शत्रुओं पर विजय पानेवाला होता है, अतः हम प्रभु को 'बल' के रूप में स्मरण करें और उससे बल की याचना करें।

भावार्थ—प्रभु 'बल' हैं। मैं भी बलवाला बनूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ओजः प्रभृतीनि** ॥ छन्दः—**एकपदाऽऽसुरीत्रिष्टुप्** ॥

आयुः

आयु॑र॒स्यायु॑र्मे दाः॒ स्वाहा॑ ॥ ४ ॥

१. हे प्रभो! आप **आयुः असि** जीवन ही जीवन हो। **मे**-मेरे लिए **आयुः दाः**-जीवन दीजिए। २. जब तक 'मानस बल' बना रहता है, तब तक जीवन भी बना रहता है, अतः बल के बाद आयुष्य की प्रार्थना है। इस बल के न रहने पर आयुष्य भी समाप्त हो जाता है, इसलिए हम बल को प्राप्त करके आयुष्य की प्रार्थना करें। **स्वाहा** हमारी वाणी इस शुभ प्रार्थना को ही करनेवाली हो।

भावार्थ—प्रकृति की ओर झुकाव आयु को क्षीण करता है। मैं प्रभुभक्त बनकर दीर्घजीवन प्राप्त करूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ओजः प्रभृतीनि** ॥ छन्दः—**एकपदाऽऽसुरीत्रिष्टुप्** ॥

श्रोत्र

श्रोत्र॑मसि॒ श्रोत्रं॑ मे दाः॒ स्वाहा॑ ॥ ५ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार मुझे दीर्घजीवन तो प्राप्त हो ही, परन्तु उस दीर्घजीवन में मेरी इन्द्रियाँ क्षीणशक्ति न हो जाएँ, अतः भक्त कहता है—हे प्रभो! आप **श्रोत्रम् असि**-सम्पूर्ण श्रवणशक्ति के स्रोत हैं, **मे** मेरे लिए **श्रोत्रं दाः** श्रोत्रशक्ति दीजिए। **स्वाहा**-मैं सदा इस उत्तम प्रार्थना को करनेवाला बनूँ। २. दीर्घजीवन में यदि मेरी श्रवणशक्ति मेरा साथ न दे तो ज्ञानवृद्धि न कर सकता हुआ मैं उस दीर्घजीवन का क्या करूँगा, केवल खाने पीने का जीवन तो प्रशस्त जीवन नहीं है।

भावार्थ—अपने दीर्घ जीवन में श्रोत्रशक्ति-सम्पन्न बनकर मैं बहुश्रुत बनूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ओजः प्रभृतीनि** ॥ छन्दः—**एकपदाऽऽसुरीत्रिष्टुप्** ॥

चक्षुः

चक्षु॑रसि॒ चक्षु॑र्मे दाः॒ स्वाहा॑ ॥ ६ ॥

१. गतमन्त्र में वर्णित श्रोत्र के साथ चक्षु भी ज्ञान प्राप्ति के प्रमुख साधनों में है, अतः उपासक प्रार्थना करता है कि प्रभो! आप **चक्षुः असि** सम्पूर्ण दृष्टिशक्ति के स्रोत हैं। **मे**-मेरे

लिए **चक्षुः दाः**=दृष्टिशक्ति प्रदान कीजिए। **स्वाहा**=मैं सदा इस शुभ प्रार्थना को करनेवाला बनूँ। २. चक्षु से प्रकृति की शोभा को देखते हुए हम प्रभु की महिमा को देखनेवाले बनते हैं, अतः वही जीवन वाञ्छनीय है जिसमें दृष्टिशक्ति ठीक बनी रहे।

भावार्थ—उत्तम दृष्टिशक्ति को पाकर मैं प्रकृति में सर्वत्र प्रभु की विभूतियों का दर्शन करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ओजः प्रभृतीनि** ॥ छन्दः—**आसुर्युष्णिक्**।

परि-पाण

परिपाणमसि परिपाणं मे दाः स्वाहा ॥ ७ ॥

१. हे प्रभो! आप **परिपाणमसि**-सब ओर से रक्षा करनेवाले हैं। **मे**=मेरे लिए **परिपाणम्**-सर्वतो रक्षण को **दाः**=दीजिए। **स्वाहा**=यह शुभ प्रार्थना मेरी वाणी से सदा उच्चरित हो। २. मेरा शरीर रोगों से आक्रान्त न हो, मेरा मन रोगों से अभिभूत न हो और मेरी बुद्धि मन्दता का शिकार न हो जाए। स्वस्थ शरीर, निर्मल मन व तीव्र बुद्धिवाला बनकर मैं पूर्ण जीवन को बिताऊँ।

भावार्थ—प्रभु सब ओर से मेरे रक्षक हैं, अतः मैं रोगों व मन्दताओं से अक्रान्त हो ही कैसे सकता हूँ?

विशेष—सूक्त का भाव यह है कि हम 'ओजस्, सहस्, बल, दीर्घजीवन, श्रोत्रशक्ति व दृष्टिशक्ति' को प्राप्त करके सब ओर से अपना रक्षण करते हुए सुन्दर जीवन बिताएँ। इस सुन्दर जीवन में विघ्नरूप से आ जानेवाले शत्रुओं के विनाश की प्रार्थना से अगला सूक्त आरम्भ होता है। शत्रुनाश करनेवाला 'चातन' ही इसका ऋषि है। उसकी प्रार्थना है कि—

॥ इति तृतीयः प्रपाठकः

अथ चतुर्थः प्रपाठकः

१८. [अष्टादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**द्विपदासाम्नीबृहती** ॥

भ्रातृव्य-नाश

भ्रातृव्यक्षयणमसि भ्रातृव्यचातनं मे दाः स्वाहा ॥ १ ॥

१. **भ्राताः**=भाई होते हुए जो शत्रु की भाँति आचरण करने लगता है वह '**भ्रातृव्य**' है। ये आत्मीय होते हुए शत्रु बन जाते हैं। इन आत्मीय शत्रुओं से भी अशान्ति बनी रहती है। हे प्रभो! आप **भ्रातृव्यक्षयणम् असि**-मेरे आत्मीय शत्रुओं को समाप्त करनेवाले हैं। **मे**=मुझे **भ्रातृव्यचातनम्**=इन आत्मीय शत्रुओं के नाश का सामर्थ्य **दाः**-दीजिए। आपकी कृपा से मैं इन्हें समाप्त कर सकूँ। इनकी भ्रातृव्यता को समाप्त करके इन्हें भ्राता बना पाऊँ। २. **स्वाहा**=(स्वा वाक् आह) मेरी वाणी सदा ऐसी प्रार्थना करनेवाली हो कि मेरे 'भ्रातृव्य' भ्रातृव्य न रहकर भ्राता बन जाएँ, तभी वस्तुतः मैं शान्त वातावरण में जीवन को सुन्दर बना सकूँगा।

भावार्थ—प्रभु मुझे भ्रातृव्यों से होनेवाली अशान्ति से बचाने का अनुग्रह करें।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**द्विपदासाम्नीबृहती** ॥

सपत्न-समापन

सपत्नक्षयणमसि सपत्नचातनं मे दाः स्वाहा ॥ २ ॥

१. अनात्मीय शत्रु सपत्न कहलाते हैं। ये वस्तुतः वे हैं जो उस वस्तु के पति बनना चाहते

हैं जिसका पति मैं हूँ। उदाहरणार्थ अपने शरीर का पति मैं हूँ। जो रोगकृमि इसपर आक्रमण करके अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहते हैं, वे मेरे सपत्न हो जाते हैं। हमारे देश पर आक्रमण करके अधिपति बनने की कामनावाले हमारे सपत्न हैं। हे प्रभो! आप **सपत्नक्षयणम् असि** सपत्नों का नाश करनेवाले हैं। **मे**=मेरे लिए भी आप **सपत्नक्षयणम्** इन सपत्नों के नाशन को **दाः** दीजिए। इन्हें दूर करके ही मैं जीवन में उन्नति कर सकूँगा। इनके उपद्रवों के होते हुए उन्नति सम्भव कहाँ? **स्वाहा**-मेरी वाणी इस सपत्नक्षयण की प्रार्थना करनेवाली हो। मुझे सपत्नों को दूर करने का सदा ध्यान रहे। शरीर से रोगकृमिरूप सपत्नों को दूर करके ही मैं स्वस्थ बन पाऊँगा। मन से वासनारूप सपत्नों को दूर करके ही मैं निर्मल जीवनवाला हो सकूँगा। इसीप्रकार बाह्य शत्रुओं को दूर करके ही मैं किसी भी प्रकार की उन्नति करने में समर्थ होऊँगा।

भावार्थ—प्रभु मुझे सपत्न-नाशन की शक्ति दें।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**द्विपदासाम्नीबृहती** ॥

अराय-चातन

अरायक्षयणमस्यरायचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ३ ॥

१. 'रा दाने' धातु से राय शब्द बना है। यह दान का वाचक है। न देने की वृत्ति को 'अराय' कहते हैं। हे प्रभो! आप **अरायक्षयणम् असि**-न देने की वृत्ति का ध्वंस करते हैं। प्रभु तो देने ही देनेवाले हैं, वहाँ 'न देने का भाव' है ही नहीं। हे प्रभो! आप **मे** मुझे भी **अरायचातनम्**-न देने की वृत्ति के नाशन की शक्ति **दाः** दीजिए। २. मैं सदा देनेवाला ही बनूँ। इस दान ही से तो मैं पापों का नाश (दाप्-लवने काटना) कर पाऊँगा और यह दान ही मुझे शुद्ध बनाएगा (दैप् शोधने)। **स्वाहा**-यह कितनी शुभ प्रार्थना है कि मेरी अदानवृत्ति को नष्ट कीजिए।

भावार्थ—मैं सदा देने की वृत्तिवाला बनूँ।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**द्विपदासाम्नीबृहती** ॥

मांसभक्षण निवृत्ति

पिशाचक्षयणमसि पिशाचचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ४ ॥

१. हे प्रभो! आप **पिशाचक्षयणम् असि**-(पिशितमश्नन्ति इति) मांसभक्षण करनेवालों का विनाश करते हैं। **मे**=मेरे लिए आप **पिशाचचातनम्**-इस मांसभक्षण की वृत्ति के विनाश को **दाः**-प्राप्त कराइए। २. मैं कभी भी पर-मांस से स्व मांस को बढ़ाने की भावनावाला न होऊँ। **स्वाहा** (सु आह) कितने सुन्दर ये वचन हैं। मेरी भावना सदा ऐसी बनी रहे।

भावार्थ—मैं मांस-भक्षण से बचूँ।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**द्विपदासाम्नीबृहती** ॥

'हित-मित-मधुर' भाषण

सदान्वाक्षयणमसि सदान्वाचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ५ ॥

१. **'सदा नोनूयमानाः सदान्वा'**—हर समय चीखते-चिल्लाते रहने व अपशब्द बोलने की वृत्ति 'सदान्वा' है। यह वृत्ति 'वचो गुप्ति' से ठीक विपरीत है। यह सब उन्नति का ध्वंस कर देती है। हे प्रभो! आप **सदान्वाक्षयणम् असि** आक्रोशकारिणी वृत्ति का ध्वंस करनेवाले हैं, **मे**-मेरे लिए **सदान्वाचातनम्**-इस आक्रोशकारिणी वृत्ति को नष्ट करने की शक्ति **दाः**=दीजिए। २. मैं सदा संयत वाक् बनूँ। कभी कोई व्यर्थ का शब्द व अपशब्द मेरे मुख से न निकले। **स्वाहा**-कितनी सुन्दर है यह प्रार्थना! हे प्रभो! आपकी कृपा से मेरी वाणी सुगुप्त हो और यह

'हित-मित-मधुर' भाषण करनेवाली हो।

भावार्थ—मैं अपशब्द न बोलूँ। मेरी वाणी सूनृता हो।

विशेष—सूक्त का भाव यही है कि मैं उन्नति के विरोधी तत्त्वों को नष्ट करके आगे बढ़नेवाला बनूँ। ये ही भाव अगले सूक्त में कुछ विस्तार से हैं। उनका ऋषि 'अथर्वा' है—न डाँवाडोल होनेवाला (अ थर्व) अथवा आत्मनिरीक्षण करनेवाला (अथ अर्वाङ्)। यह प्रार्थना करता है—

१९. [एकोनविंशम् सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्विषमात्रिपाद्गायत्री** ॥

अग्नि का तप

अग्ने॒ यत्ते॒ तप॒स्तेन॒ तं प्रति॑ तप॒ यो॒३॑स्मान्द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः ॥ १ ॥

१. हे **अग्ने**-(अगि गतौ) सब दोषों को गति के द्वारा भस्म करनेवाले प्रभो! **यत् ते तपः**=जो आपका तप है, **तेन**=उसके द्वारा **तं प्रति तप**-उसे तपानेवाले होओ, **यः**=जो **अस्मान् द्वेष्टि**-हमारे प्रति द्वेष करता है और परिणामतः **यं वयं द्विष्मः**=जिससे हम भी प्रीति नहीं कर पाते। २. यहाँ मन्त्र के उत्तरार्ध में 'यः' एक वचन है और 'अस्मान्' बहुवचन है। इससे स्पष्ट है कि कोई एक व्यक्ति सारी समाज का विरोध करता है, सारी समाज की उन्नति में विघातक बनता है। यदि वह साम (शान्ति से समझाना) आदि उपायों से अपनी समाज-विरोधी गतिविधियों से नहीं रुकता, तो अन्ततः समाज भी उसे अवाञ्छनीय समझने लगती है और अग्नि से—राष्ट्र-सञ्चालक से प्रार्थना करती है कि अब इसे आप ही दण्ड-सन्तप्त कीजिए। ३. समाज प्रभु से भी यही आराधना करती है कि आपमें ही सम्पूर्ण तप है—उस तप से सन्तप्त करके इसके जीवन को भी द्वेष के मल से रहित कीजिए। इसे भी कुछ ऐसी प्रेरणा प्राप्त हो कि यह अपना दोष देखे और उसके लिए उसमें पश्चात्ताप की भावना उत्पन्न हो। यह पश्चात्ताप उसे द्वेष से ऊपर उठानेवाला हो।

भावार्थ—अग्नि का तप समाज-विद्वेषी को तप्त करके उसे द्वेष के मल से रहित करे।

सूचना—'अग्नि' शरीर में वाणी है। इस वाणी का तप द्वेष की भावनाओं को दूर करनेवाला हो। प्रचारक वाणी से इसप्रकार के उपदेश करे कि उस द्वेषी का मन पश्चात्ताप की भावना से सन्तप्त हो उठे और वह द्वेष से ऊपर उठने का निश्चय कर ले।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्विषमात्रिपाद्गायत्री** ॥

हरण

अग्ने॒ यत्ते॒ हर॒स्तेन॒ तं प्रति॑ हर॒ यो॒३॑स्मान्द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः ॥ २ ॥

१. हे **अग्ने**=सब दोषों को गति के द्वारा भस्म करनेवाले प्रभो! **यत् ते हरः**=आपकी जो दोषहरण शक्ति है, **तेन**=उससे **तं प्रति हर**=उस व्यक्ति के दोष का हरण करो **यः**=जो **अस्मान् द्वेष्टि**-हम सबके साथ द्वेष करता है और इसीलिए **यं वयं द्विष्मः**-जिससे हम भी प्रीति नहीं कर पाते। २. प्रथम मन्त्र में 'तप' का उल्लेख था, प्रस्तुत मन्त्र में 'हरस्' का उल्लेख है। तप के द्वारा ही दोषों का हरण हुआ करता है। सोने को तपाकर ही उसके दोषों को दग्ध किया जाता है। इन्द्रियों के दोष भी प्राणायाम के तप से ही अपहृत होते हैं—'**प्राणायामैर्दहेद्दोषान्**'। एक पापी के हृदय में पश्चात्ताप की भावना ही उसके पाप का हरण करती है। ३. एक सन्त इस अग्नि, अर्थात् वाणी के द्वारा ही एक व्यक्ति को प्रभावित करके उसमें पश्चात्ताप की भावना

उत्पन्न करता है और उसके दोषों का हरण करता है। तप के पश्चात् ही हरण होता है।

भावार्थ—'अग्नि' पापी के हृदय में पश्चात्ताप की भावना उत्पन्न करके उसके दोषों का हरण करे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्विषमात्रिपाद्गायत्री** ॥

अर्चि-ज्ञानज्वाला

अग्ने यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥

१. हे **अग्ने** ज्ञान की ज्योति से दीप्त प्रभो! **यत्**-जो **ते**=आपकी **अर्चिः**-ज्ञान की ज्वाला है, **तेन**-उससे **तं प्रति अर्च**=उसके अन्दर उस ज्वाला को जगाइए, जिसमें उसका सब द्वेष दग्ध हो जाए। यह ज्वाला उसमें जगाइए **यः**-जो **अस्मान् द्वेष्टि**-हमसे द्वेष करता है और परिणामतः **यम्** जिससे **वयम्**-हम **द्विष्मः** प्रेम नहीं कर पाते (द्विष अप्रीतौ)। २. गतमन्त्र में वर्णित हरण के लिए आवश्यक है कि उस द्वेष करनेवाले के हृदय में ज्ञान की ज्वाला दीप्त की जाए। द्वेष इसी ज्वाला में भस्मीभूत होगा। अज्ञान में ही द्वेष पनपता है। ज्ञान वह अग्नि है, जिसमें सब अशुभ वासनाएँ दग्ध हो जाती हैं।

भावार्थ—ज्ञान की ज्वाला में द्वेष की भावनाएँ दग्ध हो जाएँ। अग्नि हमारे हृदय में ज्ञानाग्नि को दीप्त करे और वहाँ यह ज्ञानज्वाला सब वासनामल को भस्म कर दे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्विषमात्रिपाद्गायत्री** ॥

शोचिः (ज्वाला की दीप्ति)

अग्ने यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ४ ॥

१. हे **अग्ने** ज्ञानदीप्त प्रभो! **यत्** जो **ते**-आपकी **शोचिः** ज्ञान ज्वाला की दीप्ति है, **तेन**-उससे **तं प्रति शोच**-उसके जीवन में दीप्ति कीजिए **यः**-जो **अस्मान्**-हम सबके प्रति **द्वेष्टि**-द्वेष करता है और परिणामतः **वयम्**-हम भी **यम्** जिससे **द्विष्मः**-प्रीति नहीं कर पाते। २. इन द्वेष स्वभाववाले व्यक्तियों के हृदय में ज्ञान-ज्वाला से दीप्ति उत्पन्न करके इनके द्वेषभाव को समाप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। अज्ञान द्वेष का कारण बनता है। ज्ञान की दीप्ति होते ही द्वेष की व्यर्थता स्पष्ट हो जाती है। मूर्ख ही द्वेष कर सकता है, ज्ञानी नहीं।

भावार्थ—ज्ञान की दीप्ति के द्वारा हम हृदयों को शुद्ध करके द्वेष भावना का विनाश करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिग्विषमात्रिपाद्गायत्री** ॥

तेजस्

अग्ने यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

१. हे **अग्ने**-अग्नि के समान तेजस्वी प्रभो! **यत्**-जो **ते** आपका **तेजः**-तेज है, **तेन**-उसके द्वारा **तम्**-उसे **अतेजसम्** तेजहीन **कृणु** कीजिए, **यः**-जो **अस्मान् द्वेष्टि** हम सबके साथ द्वेष करता है **च** और **यम्**-जिसे **वयम्**-हम भी **द्विष्मः**-अप्रीति योग्य समझते हैं। २. राष्ट्र में राजा अग्नि है। यह राजा समाज विद्वेषियों को उचित दण्ड आदि के द्वारा निस्तेज कर दे, जिससे वे समाज को हानि न पहुँचा सकें। समाज में ज्ञानी ब्राह्मण भी अग्नि हैं। ये अपनी वाणी द्वारा ज्ञान को इस रूप में प्रसारित करें कि समाज-द्वेषी उससे प्रभावित होकर अपनी द्वेष आदि वृत्तियों के लिए ग्लानि का अनुभव करें।

भावार्थ—राजा व प्रचारक के दण्ड व वक्तृत्व के तेज के सामने द्वेष करनेवाले पुरुष निस्तेज होकर द्वेष को छोड़नेवाले हों।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त का भाव यही है कि अग्नि अपने 'तपस्,हरस्, अर्चिस्, शोचिस् व तेजस्' के द्वारा द्वेष करनेवाले पुरुषों को इस द्वेष की वृत्ति से पृथक् कर दे। अगले सूक्तों में अग्नि का स्थान 'वायु, सूर्य, चन्द्र व आपः' लेते हैं। अवशिष्ट मन्त्रभाग में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। 'वायु' (वा गतिगन्धनयोः) गति के द्वारा सब प्रकार की बुराइयों का हिंसन करनेवाला है। 'सूर्य' (सृ गतौ, षू प्रेरणे) निरन्तर गतिवाला होता हुआ सबको कर्मों के लिए प्रेरित करता है और मानो यही कहता है कि गति ही तुम्हें चमकाएगी। 'चन्द्र' (चदि आह्लादे) आह्लादमय मनोवृति का संकेत करता है। 'आपः' (आप् व्याप्तौ) व्यापकता का बोध करा रहा है। ये वायु आदि से सूचित भाव द्वेषभावना को नष्ट करनेवाले हैं। यदि एक मनुष्य 'वायु, सूर्य, चन्द्र व आपः' बनने का प्रयत्न करता है तो वह द्वेषादि के दुर्भावों में पड़ ही नहीं सकता। मुख्यरूप से ये सब शब्द प्रभु के वाचक हैं। वे प्रभु ही 'अग्नि' हैं (तदेवाग्निः)। वे ही 'वायु' हैं (तद् वायुः)। वे ही 'सूर्य' हैं (तदादित्यः)। वे ही 'चन्द्रमा' हैं (तदु चन्द्रमाः)। प्रभु को ही 'आपः' कहते हैं (ता आपः)। ये प्रभु अपनी 'तपस्, हरस्, अर्चिस्, शोचिस् व तेजस्' के द्वारा द्वेषियों के द्वेष दूर करें। सूक्त इसप्रकार हैं—

२०. [विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वायुः** ॥ छन्दः—**१-४ निचृद्विषमात्रिपाद्गायत्री, ५ भुरिग्विषमात्रिपाद्गायत्री** ॥

वायु का 'तप, हरस्, अर्चिः, शोचिः व तेज'

वायो यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ १ ॥
वायो यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ २ ॥
वायो यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥
वायो यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ४ ॥
वायो यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

भावार्थ—वायु अपने तप आदि के द्वारा द्वेषियों के द्वेष को दूर करे। राष्ट्र में राजा भी वायु है। राजा क्रियाशीलता के द्वारा राष्ट्र में से बुराई को दूर करे। समाज में ज्ञानी प्रचारक भी 'वायु' की भाँति गतिशील होता हुआ ज्ञानप्रसार द्वारा बुराई को दूर करे।

२१. [एकविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**१-४ निचृद्विषमात्रिपाद्गायत्री, ५ भुरिग्विषमात्रिपाद्गायत्री** ॥

सूर्य का 'तप, हरस्, अर्चिः, शोचिः व तेज'

सूर्य यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ १ ॥
सूर्य यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ २ ॥
सूर्य यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥
सूर्य यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ४ ॥
सूर्य यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

भावार्थ—सूर्य अपने तप आदि के द्वारा द्वेषियों के द्वेष को दूर करे। राष्ट्र में राजा भी सूर्य है। राजा सूर्य की भाँति निरन्तर सरण करते हुए सब लोगों को क्रिया-प्रवृत्त करता है, जिससे

न वे खाली हों और न ही व्यर्थ के द्वेष आदि में पड़ें। समाज में ज्ञानी प्रचारक को भी सूर्य की भाँति निरन्तर भ्रमण करते हुए ज्ञान के प्रकाश से अज्ञान अन्धकार को दूर करना है, जिससे लोग द्वेष आदि आसुर भावनाओं को त्याज्य ही समझें।

२२. [द्वाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**चन्द्रः** ॥ छन्दः—**१-४ निचृद्विषमात्रिपाद्गायत्री, ५ भुरिग्विषमात्रिपाद्गायत्री** ॥

चन्द्र का तप, हरस्, अर्चिः, शोचिः व तेज

चन्द्र यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः॥ १॥
चन्द्र यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः॥ २॥
चन्द्र यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः॥ ३॥
चन्द्र यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः॥ ४॥
चन्द्र यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः॥ ५॥

भावार्थ—सदा आह्लादमय प्रभु (चन्द्र) अपने तप आदि के द्वारा द्वेष भावना को दूर करे। राष्ट्र में राजा भी चन्द्र है। इसे अपने आह्लादमय स्वभाव से प्रजा के स्वभाव में भी परिवर्तन करना है। समाज में एक ज्ञानी प्रचारक को भी ज्ञान-प्रसार के साथ अपनी प्रसादमयी मनोवृत्ति से सभी को द्वेष से रहित होने की प्रेरणा देनी है।

२३. [त्रयोविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**१-४ समविषमात्रिपाद्गायत्री, ५ स्वराड्विषमात्रिपाद्गायत्री** ॥

आपः का 'तप, हरस्, अर्चिः, शोचिः व तेज'

आपो यद्वस्तपस्तेन तं प्रति तपत यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः॥ १॥
आपो यद्वो हरस्तेन तं प्रति हरत यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः॥ २॥
आपो यद्वोऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्चत यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः॥ ३॥
आपो यद्वः शोचिस्तेन तं प्रति शोचत यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः॥ ४॥
आपो यद्वस्तेजस्तेन तमतेजसं कृणुत यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः॥ ५॥

भावार्थ—सर्वव्यापक प्रभु अपने तप आदि के द्वारा द्वेषियों के द्वेष को दूर करे। राजा भी राष्ट्र में गुप्तचरों व अध्यक्षों के द्वारा व्यापक-सा होकर जहाँ भी द्वेष को देखे उसे दूर करने के लिए यत्नशील हो। ज्ञान-प्रचारक भी अपने हृदय को विशाल व उदार बनाता हुआ ज्ञान प्रसार व अपने क्रियात्मक उदाहरण से लोगों को द्वेष की भावना से ऊपर उठने की प्रेरणा दे।

उन्नीस से तेईस तक पाँच सूक्तों का उपदेश

१. इन सूक्तों का भाव ऊपर दिया ही है। मूल भावना द्वेष से ऊपर उठने की है। इस द्वेष से ऊपर उठने के लिए 'अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र व आपः' बनना चाहिए। अग्नि की भाँति गतिशील (अगि गतौ), वायु की भाँति गति के द्वारा बुराइयों को दूर करनेवाला (वा गतिगन्धनयोः), सूर्य की भाँति सरणशील व कर्मप्रेरणा देनेवाला, चन्द्रमा की भाँति आह्लादमय तथा आपः की भाँति व्यापकतावाला बनने से द्वेष का प्रसङ्ग रहता ही नहीं। २. इसीप्रकार द्वेष को दूर करने के लिए 'तपस्, हरस्, अर्चिस्, शोचिस् व तेजस्' का साधन आवश्यक है। तप सब मलों का

हरण करता है। ज्ञानज्वाला जीवन को शुचि व दीप्त बनाती है। तेजस्विता के सामने द्वेषादि भाव स्वयं अभिभूत व निस्तेज हो जाते हैं, तेजस्विता के साथ द्वेष का निवास नहीं। ३. अग्नि शरीर में 'वाणी' है, वायु 'प्राण', सूर्य 'चक्षु', चन्द्र 'मन' और आपः 'रेतस्' है। 'वाणी का संयम, प्राणसाधना(प्राणायाम), तत्त्वदर्शन, मनो-निग्रह, ऊर्ध्व-रेतस्कता' द्वेष आदि सब अशुभ भावनाओं को समाप्त कर देते हैं। एवं ये पाँच साधन मनुष्य के जीवन को अत्यन्त उन्नत व सुन्दर बनानेवाले हैं। अगले सूक्त में सब अशुभ वासनाओं के विनाश का ही निर्देश है। इस सूक्त का ऋषि ब्रह्मा है—वृद्धिवाला। देवता 'आयुः' है—उत्तम जीवन। ब्रह्मा चाहता है कि—

२४. [चतुर्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**पुरउष्णिक्पङ्क्तिः** ॥

घातपात की उत्सुकता का दूर होना

शेरभक शेरभ पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त॥ १॥

१. **शेरभक**=हे वध करनेवाले ('शसु वधे' धातु से 'ड' प्रत्यय करके 'शः' वध, तत्र रभते उत्सुकी भवति इति शेरभः शेरभ एव शेरभकः), **शेरभ**=शरभवत् सबके वधक, हे **किमीदिनः**-(किम् इदानीम् इति चरते—नि०) लुटेरो! **वः**=तुम्हारे **यातवः**=भेजे हुए राक्षसी वृत्तिवाले लोग **पुनः**-फिर लौटकर **वः यन्तु**-तुम्हें ही प्राप्त हों, **हेतिः**=तुम्हारे अस्त्र-शस्त्र **पुनः**-फिर तुम्हें ही प्राप्त हों। २. **यातवः**=हे राक्षसी वृत्ति के लोगो! **यस्य स्थ**=तुम जिसके हो **तम् अत्त**=उसे ही खानेवाले होओ। **यः**=जो **वः**=तुम्हें **प्राहैत्**-भेजता है तुम **तम् अत्त**=उसे ही खाओ तथा **स्वा मांसानि अत्त**-अपने मांस को ही खानेवाले बनो।

भावार्थ—हममें से दूसरों के घातपात की वृत्ति नष्ट हो जाए। यह अशुभ भाव हमारे ही सन्ताप का कारण बने और हम प्रायश्चित्त करके इससे दूर होने का संकल्प करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**पुरउष्णिक्पङ्क्तिः** ॥

घातपात की वृत्ति का अन्त

शेवृधक शेवृध पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त॥ २॥

१. **शेवृधक**-(शस्+ड=श, तत्र वर्धते) हे घातपात की वृत्ति में बढ़नेवाले! **शेवृध**=घातपात से ही अपने को बढ़ाने की कामनावाले! **किमीदिनः**=हे लुटेरो! **वः**-तुम्हारे **यातवः**=अनुयायी लोग **पुनः**=फिर से तुमपर ही पड़ें। २. हे **यातवः**=राक्षसी वृत्ति के लोगो! **यस्य स्थ**=जिसके तुम हो **तम अत्त**=उसी को खाओ। **यः वः प्राहैत्**=जिसने तुम्हें भेजा है **तम् अत्त**-उसे खाओ, **स्वा मांसानि अत्त**=अपने ही मांस को खाओ। ३. इसप्रकार के समाज-विरोधी तत्त्व राज्य-प्रबन्ध की उत्तमता से, स्वयं ही एक-दूसरे के विरोध में होकर नष्ट हो जाएँ। इन्हें उत्तम प्रेरणाएँ, राजदण्ड का भय व राज्य-व्यवस्था की उत्तमता से उत्पन्न हुई-हुई विवशता परिवर्तित जीवनवाला कर दे।

भावार्थ—राज्य-व्यवस्था की उत्तमता से घातपात की वृत्ति से बढ़नेवाले लोग समाप्त हो जाएँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**पुरोदेवत्यापङ्क्तिः** ॥

चोरी की वृत्ति का अन्त

म्रोकानुम्रोक पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त॥ ३॥

१. **म्रोक** हे चोर (म्रोचति चोरयति इति म्रोकः, तमनुसरतीति अनुम्रोकः)! **अनुम्रोक**-हे चोर के अनुयायिन्! **किमीदिनः**-हे लुटेरे लोगो! **वः**-तुम्हारे **यातवः** पीड़ाकर राक्षसी वृत्ति के लोग **पुनः यन्तु** लौटकर तुम्हें ही प्राप्त हों। **हेतिः पुनः**-तुम्हारे अस्त्र शस्त्र तुमपर ही पड़ें। २. **यस्य स्थ**=तुम जिसके हो **तम् अत्त** उसी को खाओ। **यः**-जो **वः** तुम्हें **प्राहैत्**-भेजता है **तम् अत्त**-उसे खाओ, **स्वा मांसानि अत्त**=अपने ही मांस को खानेवाले बनो।

भावार्थ—चोरी की वृत्ति का अन्त हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**पुरोदेवत्यापङ्क्तिः** ॥

कुटिलता का अन्त

सर्पानुसर्प पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः।

यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त॥ ४॥

१. हे **सर्प** कुटिल चालवाले! **अनुसर्प** हे कुटिल पुरुष के अनुयायिन्! (सर्पति कुटिलतां गच्छति, तमनुसर्पति)। **किमीदिनः**-हे लुटरो! **वः**=तुम्हारे **यातवः** पीड़ा देनेवाले राक्षसी वृत्ति के लोग **पुनः यन्तु**-फिर से तुम्हें प्राप्त हों, **हेतिः पुनः**=तुम्हारे अस्त्र शस्त्र तुमपर ही पड़ें। २. **यस्य स्थ**-जिसके तुम हो **तम् अत्त** उसे ही खाओ, **यः**-जो **वः** तुम्हें **प्राहैत्**-भेजता है **तम् अत्त**-उसे नष्ट करो और **स्वा मांसानि अत्त**-अपने ही मांसों को खाओ।

भावार्थ—राष्ट्र में कुटिलवृत्ति के पुरुष न रहें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदाबृहती** ॥

क्रोध आदि से ऊपर

जूर्णि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः।

यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त॥ ५॥

१. हे **जूर्णि** क्रोधवृत्ति (जीर्णं भवति प्राणिशरीरम् अनयेति जूर्णिः, Anger)! **किमीदिनीः**-डाका मारने की वृत्तियो! **वः**-तुम्हारे **यातवः**-पीड़ित करनेवाले राक्षसी वृत्ति के लोग **पुनः यन्तु**=फिर से तुम्हें प्राप्त हों। **हेतिः पुनः**-तुम्हारे अस्त्र तुमपर ही प्रहार करनेवाले हों। २. **यस्य स्थ**-तुम जिसके हो **तम् अत्त** उसी को खाओ, **यः वः प्राहैत्** जो तुम्हें भेजता है, **तम्**-उसे खानेवाले होओ। **स्वा मांसानि अत्त**-अपने ही मांसों को खानेवाले बनो।

भावार्थ—शक्ति को जीर्ण करनेवाली क्रोध आदि वृत्तियों से हम ऊपर उठें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**भुरिक्चतुष्पदाबृहती** ॥

क्रूर शब्दों का त्याग

उपब्दे पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः।

यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त॥ ६॥

१. **उपब्दे**-(क्रूर शब्दकारिणी—सा०) क्रूर शब्द करने की वृत्ते! **किमीदिनीः**=डाका आदि मारने की वृत्तियो! **वः**-तुम्हारे **यातवः**=पीड़ित करनेवाली राक्षसी वृत्ति के लोग **पुनः यन्तु**-फिर से तुम्हें ही प्राप्त हों। **हेतिः पुनः**-तुम्हारे अस्त्र लौटकर तुमपर ही प्रहार करनेवाले हों। २. **यस्य स्थ**-तुम जिसके हो **तम् अत्त**=उसी को खाओ, **यः वः प्राहैत्**-जो तुम्हें भेजता है, **तम् अत्त**=उसे खाओ। **स्वा मांसानि अत्त**-अपने ही मांसों को खानेवाले बनो।

भावार्थ—व्यर्थ के क्रूर शब्दों के उच्चारण करने की वृत्ति विनष्ट हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**भूरिक्चतुष्पदाबृहती** ॥

शुद्ध उपायों से अर्जन

अर्जुनि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त॥ ७॥

१. 'अर्जुनि' शब्द एक प्रकार की सर्पिणी के लिए आता है। वस्तुतः अर्ज धातु कमाने के अर्थ में आती है। कुटिलता से, छल-छिद्र से कमाने की वृत्ति ही 'अर्जुनी' है। हे **अर्जुनि**=छल-कपट से कमाने की वृत्ते! **किमीदिनीः**=लूट-खसोट की वृत्तियो! **वः**=तुम्हारे **यातवः**=पीड़ित करनेवाले राक्षसी लोग **पुनः यन्तु**=फिर से तुम्हें ही प्राप्त हों, **हेतिः पुनः**=तुम्हारे अस्त्र लौटकर फिर तुमपर ही प्रहार करनेवाले हों। २. **यस्य**=जिसकी **स्थ**=तुम हो **तम् अत्त**=उसे ही खा जाओ, **यः वः प्राहैत्**=जो तुम्हें भेजता है, **तम् अत्त**=उसे ही खा जाओ। **स्वा मांसानि अत्त**=अपने ही मांस को खा जाओ।

भावार्थ—छल-छिद्र से कमाने की वृत्ति हमसे दूर हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**भुरिक्चतुष्पदाबृहती** ॥

धूर्त्तता से दूर

भरूजि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त॥ ८॥

१. 'भरूजी' शब्द गीदड़ (jackal) के लिए आता है। शृगाल धूर्तता के लिए प्रसिद्ध है। हे **भरूजि**=धूर्त्तता की वृत्ते! **किमीदिनीः**=हे लूट खसोट की वृत्तियो! **वः**=तुम्हारे **यातवः**=अनुयायी **पुनः यन्तु**=लौटकर तुम्हारे ही पास आएँ। **हेतिः पुनः**=तुम्हारे अस्त्र लौटकर तुमपर ही प्रहार करनेवाले हों। २. **यस्य स्थ**=तुम जिसके हो **तम् अत्त**=उसी को खाओ। **यः वः प्राहैत्**=जो तुम्हें भेजता है **तम् अत्त**=उसे खानेवाले बनो, **स्वा मांसानि अत्त**=तुम अपने ही मांसों को खानेवाले होओ।

भावार्थ—हम शृगाल जैसी वृत्तिवाले न हों, धूर्तता से दूर होकर सरलता को अपनाएँ।

विशेष—प्रस्तुत सूक्त में समाज के उत्कर्ष के लिए आठ बातों का प्रतिपादन हुआ है—१. घातपात की उत्सुकता से हम शून्य हों (शेरभक), २. औरों के नाश को अपनी वृद्धि का आधार न बनाएँ (शेवृधक)। ३. चोरी का त्याग करें (म्रोक), ४. सर्प की भाँति कुटिल न हों (सर्प), ५. क्रोध से ऊपर उठें (जूर्णि), ६. क्रूर शब्दों व बहुत बोलने का त्याग करें(उपब्दि),७. छल-छिद्र से अर्जन करनेवाले न हों (अर्जुनी), ८. शृगाल की भाँति धूर्त न हों—धूर्तता से सदा दूर हों (भरूजी)। इन आठ अशुभ वृत्तियों से रहित समाज कितना सुन्दर समाज होगा! इस सूक्त में 'स्वा मांसानि अत्त' आदि शब्दों से यह स्पष्ट कर दिया है कि ये वृत्तियाँ अपने आश्रयभूत व्यक्ति को ही समाप्त करनेवाली हैं, अतः इनका त्यागना ही व्यक्ति के कल्याण के लिए है। इनके त्याग से ही व्यक्ति दीर्घायुष्य को प्राप्त करता है। इसी दृष्टिकोण से इस सूक्त का देवता 'आयुः' रक्खा गया है। इन अशुभ वृत्तियों के नाश के लिए ही पृश्निपर्णी नामक वनस्पति के प्रयोग का अगले सूक्त में संकेत है। उसके प्रयोग से इन वृत्तियों को नष्ट करनेवाला 'चातनः' इस सूक्त का ऋषि है। वह प्रार्थना करता है—

२५. [पञ्चविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**पृश्निपर्णी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कण्वजम्भनी पृश्निपर्णी

शं नो॑ दे॒वी पृ॑श्निप॒र्ण्यशं॒ निर्ऋ॑त्या अकः।
उ॒ग्रा हि क॑ण्व॒जम्भ॑नी॒ ताम॑भक्षि॒ सह॑स्वतीम्॥ १॥

१. **देवी**-रोगों को जीतने की कामना करनेवाली यह **पृश्निपर्णी**-चित्रपर्णी नामक ओषधि **नः शम्**-हमारे लिए शान्ति करनेवाली हो। **निर्ऋत्या**-रोग की निदानभूत दुर्गति के लिए यह **अशं अकः**-दुःख (अशान्ति) करे, अर्थात् निर्ऋति को हमसे दूर करके यह हमें नीरोग करे। २. यह पृश्निपर्णी **हि** निश्चय से **उग्रा**-बड़ी तीव्र व तेजस्विनी है, **कण्वजम्भनी** पापों व रोगों को नष्ट करनेवाली है, **ताम्**-उस **सहस्वतीम्** प्रशस्त बलवाली व शत्रुभूत रोगबीजों का मर्षण करनेवाली पृश्निपर्णी का **अभक्षि** मैं सेवन करता हूँ।

भावार्थ—पृश्निपर्णी ओषधि का प्रयोग रोगबीजों व पापों को नष्ट करके हमें शरीर व मन से स्वस्थ बनाता है।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**पृश्निपर्णी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कुष्ठादि रोगों का शिरश्छेद

सह॑माने॒यं प्र॑थ॒मा पृ॑श्निप॒र्ण्य॑जायत।
तया॒हं दु॒र्णाम्नां॒ शिरो॑ वृश्चामि॒ श॒कुने॑रिव॥ २॥

१. **इयम्**-यह **पृश्निपर्णी** चित्रपर्णी वनस्पति **सहमाना**-रोगों का अभिभव करनेवाली है, अतएव **प्रथमा**-ओषधियों में इसका मुख्य स्थान **अजायत**-हो गया है। २. **तया**-इस पृश्निपर्णी के द्वारा **अहम् दुर्णाम्नाम्**-मैं विसर्पक श्वित्र आदि अशुभ नामवाले कुष्ठ रोगविशेषों का **शिरः**-सिर इसप्रकार **वृश्चामि**-काट डालता हूँ **इव**-जैसे कि खड्ग आदि के प्रहार से अनायास ही किसी **शकुनेः**=पक्षी का सिर काट डाला जाता है।

भावार्थ—पृश्निपर्णी से कोढ़ आदि अशुभ नामवाले रोग दूर हो जाते हैं।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**पृश्निपर्णी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

रक्तदोष निवारण

अ॒राय॑मसृ॒क्पावा॑नं॒ यश्च॑ स्फा॒तिं जिही॑र्षति।
ग॒र्भा॒दं कण्वं॑ नाशय॒ पृश्नि॑पर्णि॒ सह॑स्व च॥ ३॥

१. हे **पृश्निपर्णि**-चित्रपर्णि ओषधे! तू उस **कण्वम्**-रोगबीज व पाप को **नाशय**-लुप्त कर दे (णश अदर्शने) **सहस्व च**-तथा कुचल डाल **यः**-जो **स्फातिम्**=वृद्धि को **जिहीर्षति**=हर लेना चाहता है—शरीर की वृद्धि को रोक देता है। **अरायम्**=शरीर की शोभा को नष्ट करनेवाला जो कुष्ठ आदि रोग है, उसे नष्ट कर तथा **असृक्पावानम्**=रुधिर को पी लेनेवाले कामला आदि रोगों को भी नष्ट कर। २. इनके साथ **गर्भादम्** गर्भ को खा जानेवाले रोगबीज को तू नष्ट करनेवाला हो। ३. आयुर्वेद के अनुसार यह पृश्निपर्णि 'दाह,ज्वर, श्वास, रक्त-अतिसार, तृषा व वमन' को दूर करती है। यहाँ **अरायं असृक्पावानं नाशय**-शब्दों से रक्तदोष को दूर करने का उल्लेख है। रक्तदोष को दूर करके यह वृद्धि का कारण बनती है। माता के रक्तदोष के दूर होने पर गर्भस्थ बालक के शरीर का भी ठीक से पोषण होता है।

भावार्थ—पृश्निपर्णी रक्तदोष को दूर करती है।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**पृश्निपर्णी** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

अव्याकुल जीवन

गिरिमेनाँ आ वेशय कण्वाञ्जीवितयोपनान्।
तांस्त्वं देवि पृश्निपर्ण्यग्निरिवानुदहन्निहि॥ ४॥

१. **एनान्** इन **जीवितयोपनान्**=(युप विमोहने) जीवन के विमोहक—व्याकुल करनेवाले **कण्वान्**=रोगबीजों को **गिरिम्**=पर्वतों में **आवेशय**=गाड़ दो। हे पृश्निपर्णे! तू इन रोगों को इसप्रकार दूर कर दे कि ये लौटकर फिर हमारे पास न आ सकें। तू इन्हें पर्वतशिलाओं के नीचे गाड़ दे। २. हे **देवि पृश्निपर्णि**=रोगों को जीतनेवाली पृश्निपर्णे! **त्वम्**=तू **तान्**=उन कण्वों को **अग्निः इव**=अग्नि की भाँति **अनुदहन्**=क्रमशः जलाती हुई **इहि**=हमें प्राप्त हो।

भावार्थ—पृश्निपर्णी का सेवन रोगबीजों को भस्म करके हमारे जीवनों को व्याकुलता-रहित कर दे।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**पृश्निपर्णी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अन्धकार में रोग

परांच एनान्प्र णुद कण्वाञ्जीवितयोपनान्।
तमांसि यत्र गच्छन्ति तत्क्रव्यादो अजीगमम्॥ ५॥

१. हे पृश्निपर्णे! तू **जीवितयोपनान्**=जीवन की व्याकुलता के कारणभूत **एनान्**=इन **कण्वान्**=रोगबीजों को **पराचः प्रणुद**=पराङ्मुख करके दूर कर दे। ये कण्व हमसे दूर होकर हमें नीरोग जीवन बिताने दें। २. **यत्र**=जहाँ **तमांसि गच्छन्ति**=अँधेरा जाता है, जिस स्थान पर अन्धकार-ही-अन्धकार होता है—सूर्यप्रकाश नहीं पहुँचता, **तत्**=उस असूर्य-स्थान में इन **क्रव्यादः**=मांस आदि शरीर-धातुओं के खा जानेवाले कुष्ठ आदि रोगों को **अजीगमम्**=प्राप्त कराता हूँ। ये रोग उसी स्थान में होते हैं जहाँ सूर्य-किरणों का प्रवेश नहीं होता।

भावार्थ—सूर्य प्रकाश में रहते हुए हम पृश्निपर्णी के प्रयोग से कुष्ठादि रोगों को दूर करें।

विशेष—यह सूक्त पृश्निपर्णी ओषधि का वर्णन करता है। यह ओषधि रोगबीजों को नष्ट करके हमारे जीवनों को व्याकुलतारहित, शान्त व शोभावाला बनाती है। जीवन को सुन्दर बनाने के लिए ही गोदुग्ध सेवन का अधिक महत्त्व है। इसका ही वर्णन अलगे सूक्त में है। गोरस के प्रयोग से अपने में सोम आदि धातुओं का सवन करनेवाला 'सविता' ही अगले सूक्त का ऋषि है। यह सविता चाहता है कि—

२६. [षड्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**सविता** ॥ देवता—**पशवः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गौओं का घर से बाहर जाना

एह यन्तु पशवो ये परेयुर्वायुर्येषां सहचारं जुजोष।
त्वष्टा येषां रूपधेयानि वेदास्मिन्तान् गोष्ठे सविता नि यच्छतु॥ १॥

१. **इह**=यहाँ—हमारे घरों में **पशवः**=पशु **आयन्तु**=लौटकर आनेवाले हों, **ये**=जो **परेयुः**=चरने के लिए दूर निकल गये हैं, **येषाम्**=जिन पशुओं के **सहचारम्**=सहचरण को **वायुः जुजोष**=वायु ने सेवन किया, अर्थात् जो पशु खूब खुली वायु में घूमनेवाले बने, वे दिनभर वायुसेवन के पश्चात्

अब घरों में लौटें। २. **त्वष्टा**-(इन्द्रो वै त्वष्टा—ऐ० ६.१०) दीप्तिमान् सूर्य **येषाम्**-जिनके **रूपधेयानि वेद**-रूपों में धारण को जानता है, अर्थात् जिनमें उत्तम रूप स्थापित है। ये गौ आदि पशु जितना सूर्य-किरणों के सम्पर्क में समय बिता पाएँगे, उतना ही सुरूप होते हुए उत्तम दूधवाले भी होंगे। **तान्**-उन पशुओं को **सविता**-दूध का अभिषव व दोहन करनेवाला व्यक्ति **अस्मिन् गोष्ठे**-इस गोष्ठ स्थान में **नियच्छतु**=बाँधकर रक्खे।

भावार्थ—प्रातः दुग्धदोहने के बाद गौएँ चरने के लिए चारागाहों में जाएँ। इस समय वायु व सूर्य के सम्पर्क में रहती हुई वे स्वस्थ होंगी व पौष्टिक दूध देनेवाली होंगी।

ऋषिः—**सविता**॥ देवता—**पशवः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

गवादि पशुओं का घर वापस आना

इमं गोष्ठं पशवः सं स्रवन्तु बृहस्पतिरा नयतु प्रजानन्।
सिनीवाली नयत्वाग्रमेषामाजग्मुषो अनुमते नि यच्छ॥ २॥

१. **इमं गोष्ठम्** इस गोष्ठ में **पशवः**-गौ आदि पशु **संस्रवन्तु**-सम्यक् प्राप्त हों। **बृहस्पतिः**-(बृहत्-strong, powerful) इनका शक्तिशाली रक्षक गोप **प्रजानन्**-इन पशुओं का पूरा ध्यान रखता हुआ इन्हें **आनयतु** पुनः घरों पर वापस लानेवाला हो। २. **सिनीवाली**-प्रशस्त अन्न का वरण करनेवाली (सिनम्, अन्नम्, वालं वृणोतेः), अर्थात् इन गवादि पशुओं के लिए उत्तम यवसादि की व्यवस्था करनेवाली (सूयवसाद् भगवती हि भूयाः) **एषाम्**-इन पशुओं को **अग्रं आनयतु**-आगे लानेवाली हो, अर्थात् जब ये गोप के द्वारा चारागाह से वापस लाये जाएँ तब गृहपत्नी इनका स्वागत करने के लिए तैयार हो। इसप्रकार इन गौ आदि पशुओं एवं गृहपत्नी में एक सुन्दर प्रेममय सम्बन्ध की स्थापना हो जाती है। ऐसे पशु अत्यन्त गुणकारी दूध देते हैं। ३. हे **अनुमते**-अनुकूल मतिवाली गृहपत्नि! **आजग्मुषः**-घर में आये हुए इन पशुओं को **नियच्छ**-तू उचित बन्धन में करनेवाली हो। इन्हें ठीक स्थान पर बाँध। गृहपत्नी पशुओं के प्रति जितने अनुकूल विचारवाली होती है, उतना ही पशुओं का दूध अधिक गुणकारी होता है।

भावार्थ—ग्वाला समझदारी से पशुओं का ठीक रक्षण करे। लौटे हुए पशुओं का गृहपत्नी स्वागत करती हुई उन्हें ठीक स्थान पर बाँधे और उनके लिए उचित चारे की व्यवस्था करे।

ऋषिः—**सविता**॥ देवता—**पशवः**॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्विराड्बृहती**॥

संस्राव्य हवि की आहुति

सं सं स्रवन्तु पशवः समश्वाः समु पूरुषाः।
सं धान्य॑स्य या स्फातिः संस्राव्ये॑ण हविषा जुहोमि॥ ३॥

१. **पशवः**-गौ आदि पशु **सं सं स्रवन्तु**=मिलकर सम्यक् गतिवाले हों। चारागाहों में एकत्र होने पर परस्पर लड़ न पड़ें। **अश्वाः** घोड़े **सं (स्रवन्तु)** मिलकर गतिवाले हों। इन पशुओं के **पूरुषाः**-रक्षक पुरुष **उ** भी **सम्**-मिलकर गतिवाले हों। गोपों में परस्पर लड़ाई न हो जाए। इनकी लड़ाई में पशुओं की दुर्गति भी सम्भावित है ही। २. **धान्यस्य या स्फातिः**-धान्य की जो वृद्धि है, वह **सं (स्रवन्तु)** हमारे घरों में सम्यक् प्रवाहित हो। मैं **संस्राव्येण हविषा**-इन सबके संस्तव के लिए हितकर हवि के द्वारा **जुहोमि**-आहुति देता हूँ। राष्ट्र के सब घरों में अग्निहोत्र की ठीक व्यवस्था होने पर जहाँ शरीर व मानस नीरोगता प्राप्त होती है वहाँ गौओं, घोड़ों व धान्यों की कमी नहीं रहती।

भावार्थ—घरों में अग्निहोत्र होने पर गौओं, घोड़ों, व धान्यों का प्रवाह ठीक रहता है।

ऋषिः—**सविता** ॥ देवता—**पशवः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

घर पर गौ का ध्रुव निवास

सं सिञ्चामि गवां क्षीरं समाज्येन बलं रसम्।

संसिक्ता अस्माकं वीरा ध्रुवा गावो मयि गोपतौ ॥ ४ ॥

१. मैं **गवां क्षीरम्**=गौओं के दूध को **संसिचामि**=सम्यक् सिक्त करता हूँ—रजकर गोदुग्ध का सेवन करता हूँ। **आज्येन**-घृत के द्वारा **बलम्**-शरीर में बल को तथा **रसम्**-वाणी में रस को **सम्**=सम्यक् सिक्त करता हूँ। गोदुग्ध के यथेष्ट पान से शरीर व मन स्वस्थ रहते हैं। गोघृत शरीर को बलवान् और वाणी को रसीला बनानेवाला है। २. **अस्माकं वीराः**=हमारे सन्तान भी **संसिक्ताः**-गोदुग्ध व घृत से सम्यक् सिक्त होते हैं, इसलिए **मयि गोपतौ**=मुझ गोरक्षक में **गावः**=गौएँ **ध्रुवाः**=ध्रुवता से रहती हैं। ऐसा कभी नहीं होता कि मैं गौ न रक्खूँ। मेरा घर सदा गौवाला घर बना रहता है। घर में गौ होने पर सब गोदुग्ध का यथेष्ट प्रयोग कर पाते हैं।

भावार्थ—घर पर गौ को नियम से रखना ही चाहिए, ताकि सब यथेष्ट दूध पी सकें।

ऋषिः—**सविता** ॥ देवता—**पशवः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

गौ, धान्य, पुत्रादि से समृद्ध घर

आ हरामि गवां क्षीरमाहार्षं धान्यं रसम्।

आहृता अस्माकं वीरा आ पत्नीरिदमस्तकम् ॥ ५ ॥

१. मैं **गवां क्षीरम्**=गौओं के दूध का **आहरामि**-आहार करता हूँ तथा सदा **धान्यं रसम्**-अन्न रस का **आहर्षम्**=आहार करनेवाला रहता हूँ। २. इस सात्त्विक भोजन का ही यह परिणाम है कि **अस्माकं वीराः आहृताः**=घर में हमें वीर सन्तानें प्राप्त हुई हैं तथा **पत्नीः** गृहपत्नियाँ भी **इदं अस्तकम्**=इस घर में **वीराः**=वीर ही **आ (हृताः)**=आयी हैं। पत्नियाँ भी सात्त्विकता को लिये हुए होने से वीर हैं, उनकी सन्तान भी वीर हैं।

भावार्थ—गोदुग्ध व धान्य-रस के भोजन का यह परिणाम है कि घर खूब समृद्ध बना रहता है।

विशेष—यह सूक्त गोदुग्ध के महत्त्व को व्यक्त करता है। अगला सूक्त विजय-प्राप्ति का सन्देश दे रहा है। हमें प्रकृष्ट पथ्यरूप भोजन करनेवाला 'प्राश' बनना है। 'पाटा, नामक ओषधि इस प्राश के लिए सहायक होती है। यह ओषधि इसपर आक्रमण करनेवाले रोगकृमियों को नष्ट कर देती है—उन्हें अरस व शुष्क कर देती है। इसप्रकार पथ्य भोजन व पाटा नामक ओषधि प्रयोग से यह नीरोग जीवनवाला व्यक्ति 'कम्=सुखम्, पिञ्जम्-शक्तिं (power) च लाति आदत्ते' सुख और शक्ति का आदान करनेवाला 'कपिञ्जल' होता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

२७. [सप्तविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**कपिञ्जलः** ॥ देवता—**ओषधिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'प्राश' से रोगों का नाश

नेच्छत्रुः प्राशं जयाति सहमानाभिभूरसि। प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कृण्वोषधे ॥ १ ॥

१. **शत्रुः**-रोगकृमि के रूप में हमारा शातन करनेवाला यह शत्रु **प्राशम्**-प्रकृष्ट भोजनवाले पथ्यसेवी पुरुष को **न इत् जयाति**-निश्चय ही जीत नहीं पाता। २. हे पाटा नामक ओषधे! तू भी **सहमाना**=शत्रुओं का मर्षण करनेवाली और **अभिभूः असि**-रोगों को दबा लेनेवाली है। हे ओषधे=(दोषं धयति पिबति-आद्यक्षर लोप) दोष को पी जानेवाली ओषधे! तू **प्राशं प्रति**

प्राश:-पथ्य-सेवी के, शत्रु बनकर उसे खा जानेवाले, रोगों को **जहि**=नष्ट कर दे। इन सब रोग व रोगकृमियों को **अरसान् कृणु**-तू शुष्क कर दे। इनकी शक्ति को तू समाप्त कर दे।

भावार्थ—हम 'प्राश'—उत्कृष्ट पथ्य भोजनवाले बनें। ओषधि का उचित प्रयोग करें। इसप्रकार हमारे रोगरूप शत्रु शुष्क होकर समाप्त हो जाएँगें।

ऋषि:—**कपिञ्जल:** ॥ देवता—**ओषधि:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

सुपर्ण तथा सूकर द्वारा अन्वेषण

सुपर्णस्त्वान्वविन्दत्सूकरस्त्वाखनन्नसा। प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कृण्वोषधे॥ २॥

१. हे **ओषधे** पाटा नामक ओषधे! **त्वा**-तुझे **सुपर्ण:**-गरुड़ **अनु+अविन्दत्**-क्रमश: खोज निकालता है। विष आदि के अपहरण के लिए गरुड़ को इसकी आवश्कता रही है। वह वासनारूप (Instinctively) से इस ओषधि को खोज लेता है। २. **सूकर:**-सूअर **त्वा**-तुझे **नसा** थुथनी से (नासिका सहित दंष्ट्रा से) **अखनत्**-खोद लेता है। भूमि के अन्दर उत्पन्न होनेवाली इस ओषधि को यह बाहर निकाल लेता है। ३. हे ओषधे! तू **प्राशम्**-पथ्यसेवी के **प्रतिप्राश:**-विरोधी बनकर उसे खा जानेवाले रोगों को **जहि**-नष्ट कर दे। इन रोगकृमियों को **अरसान् कृणु**-शुष्क कर दे।

भावार्थ—पाटा ओषधि को सुपर्ण और सूअर प्रभु-प्रदत्त वासना से ढूँढ लेते हैं और इसके सेवन से विषैले प्रभावों को दूर करते हैं।

ऋषि:—**कपिञ्जल:** ॥ देवता—**ओषधि:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

इन्द्र द्वारा पाटा का धारण

इन्द्रो ह चक्रे त्वा बाहावसुरेभ्य स्तरीतवे। प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कृण्वोषधे॥ ३॥

१. यह पाटा ओषधि 'भग्न सन्धानकरी' है, अत: **इन्द्र:**-सेनापति ने **ह** निश्चय से ही पाटा ओषधे! **त्वा**-तुझे **असुरेभ्य:**=असुरों से **तरीतवे**-पार पाने के लिए **बाहौ चक्रे**=अपनी भुजाओं पर धारण किया। संग्राम में विदारणों का भय बना ही रहता है। यह पाटा ओषधि इन विदारणों का सर्वोतम उपचार है, अत: सेनापति इसे सदा अपने समीप रखता है, मानो इसे बाहु पर ही धारण किये रहता है। २. हे **ओषधे**-ओषधे! तू **प्राशम्**-पथ्यसेवी के **प्रतिप्राश:**-विरोधी होकर खा जानेवाले रोगों को **जहि**=नष्ट कर। इन रोगकृमियों को **अरसान् कृणु**-शुष्क कर दे।

भावार्थ—पाटा ओषधि भग्नसन्धानकरी है, अत: संग्राम में घावों के उपचार में अत्यन्त उपयुक्त है, इसी से सेनापति इसे सदा समीप रखता है।

ऋषि:—**कपिञ्जल:** ॥ देवता—**ओषधि:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

असुरों की पराजय

पाटामिन्द्रो व्या शनादसुरेभ्य स्तरीतवे। प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कृण्वोषधे॥ ४॥

१. **इन्द्र:** इन्द्र ने **असुरेभ्य: तरीतवे**-असुरों से—प्राणशक्ति नाशक रोगकृमियों से पार पाने के लिए **पाटाम्** पाटा नामक ओषधि का **व्याश्नात्**-भक्षण किया। यह पाटा 'वातपित्तज्वरघ्नी' तथा 'कफकण्ठरूजापहा' होने से रोगों की नाशक है। वात-पित व कफ़ तीनों के विकारों मे होनेवाले कष्टों में यह उपयोगी है, अत: इन्द्र ने इसका भक्षण किया। २. इन्द्र से भक्षण की गई हे **ओषधे** ओषधे! तू **प्राशम्**=उत्कृष्ट भोजनवाले के **प्रतिप्राशम्** विरोधी बनकर खा जानेवाले इन रोगों को **जहि**-नष्ट कर दे। तू इन रोगकृमियों को **अरसान्**=नीरस व शुष्क **कृणु**=कर दे।

भावार्थ-पाटा ओषधि वात-पित व कफ-जनित सभी विकारों की शान्ति के लिए उपयोगी है।

ऋषिः—**कपिञ्जलः** ॥ देवता—**ओषधिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शत्रुओं का अभिभव

तयाहं शत्रून्त्साक्ष इन्द्रः सालावृकाँइव। प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कृण्वोषधे॥ ५॥

१. **तया**=गतमन्त्र में वर्णित पाटा नामक ओषधि से **अहम्**=मैं **शत्रून्**=रोगरूप शत्रुओं का **साक्षे**=पराभव करता हूँ, उसी प्रकार **इव**=जैसे **इन्द्रः**=राजा **सालावृकान्**=कुत्तों व गीदड़ों की वृत्तिवाले पुरुषों का पराभव करता है (शालावृक=a dog, a jackal)। इन्द्र जेसे कुत्तों का अभिभव करता है, उसी प्रकार मैं पाटा ओषधि से रोगों को अभिभूत करता हूँ। २. हे **ओषधे**=ओषधे! तू **प्राशम्**-इस प्रकृष्ट पथ्यभोजी के **प्रतिप्राशः**=विरोधी बनकर खा जानेवाले रोगों का **जहि**-विनाश कर और **अरसान् कृणु**-उन्हें शुष्क व मृत कर दे।

भावार्थ—पाटा नामक ओषधि से मैं रोगकृमियों को अभिभूत कर दूँ।

ऋषिः—**कपिञ्जलः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सद् वैद्य

रुद्र जलाषभेषज नीलशिखण्ड कर्मकृत्। प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कृण्वोषधे॥ ६॥

१. **रुद्र**-(रुत् दुःखं दुःखहेतुर्वा तद् द्रावयति नः प्रभुः। रुद्र इत्युच्यते तस्मात् शिवः परमकारणम्।) हे रोगरूप दुःखों का द्रावण करनेवाले! **जलाषभेषज**=(जनैः लष्यते, जलाषं सुखम्) सुखकर ओषधियोंवाले! **नीलशिखण्ड**=(नील-नीड् शिखि गतौ) रोगियों के गृह की ओर जानेवाले (अपने रोगियों—patients के घरों का चक्कर—round लगानेवाले) **कर्मकृत्**-खूब क्रियाशील, कम बोलनेवाले वैद्य! आप इस पाटा ओषधि के प्रयोग से **प्राशम्**=इस पथ्यभोजी के **प्रतिप्राशः**=शत्रु बनकर इसे खा जानेवाले रोगों को **जहि**=नष्ट कर दीजिए। हे **ओषधे**=दोष-दहन करनेवाली भेषज! तू **अरसान् कृणु**=रोगकृमियों को शुष्क व मृत कर दे।

भावार्थ—वैद्य रोगों को दूर करनेवाला, सुखकर औषधवाला, रोगिगृहों पर जानेवाला व क्रियाशील (पुरुषार्थी) हो। वह उचित औषध-प्रयोग से रोगों को नष्ट करे।

सूचना—यहाँ 'नीलशिखण्ड' का अर्थ 'काली चोटीवाले'—ऐसा करते हैं और समझते हैं कि वैद्य अतिवृद्ध न हो गया हो। अर्थ व्याकरण के अनुसार ठीक है, परन्तु वृद्ध वैद्य अनुभव की अधिकता के कारण अधिक कुशल होता है। यह वृद्धता उसकी कमी न होकर उसका गुण बन जाती है। हाँ, वैद्य मरियल-सा न होना चाहिए, उसका रोगी पर वाञ्छनीय प्रभाव नहीं हो पाता।

ऋषिः—**कपिञ्जलः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

रोगों का नाश

तस्य प्राशं त्वं जहि यो न इन्द्राभिदासति।
अधि नो ब्रूहि शक्तिभिः प्राशि मामुत्तरं कृधि॥ ७॥

१. हे **इन्द्र**-शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **यः**=जो रोग **नः अभिदासति**=हमें सब प्रकार से उपक्षीण करता है, **तस्य**=उस रोग की **प्राशम्**=मुझे खा जाने की शक्ति को **त्वम् जहि**=तू नष्ट कर दे। २. **शक्तिभिः**=शक्तियों के द्वारा **नः अधिब्रूहि**=हमारे पक्ष में निर्णय दीजिए (speak in favour of), अर्थात् हम रोगों को जीत लें। **प्राशि**-भोजन के प्रकृष्ट होने पर **माम्**=मुझे **उत्तरं कृधि**=उत्कृष्ट कीजिए। मैं रोग को पादाक्रान्त करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—प्रभु रोग की घातक शक्ति को नष्ट करें और मुझे रोग को जीतने की शक्ति दें।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त में रोग को पराजित करने की प्रार्थना है। रोगों को नष्ट करके हम दीर्घजीवन प्राप्त कर सकते हैं। इस दीर्घजीवन का ही उल्लेख अगले सूक्त में हैं। इसे प्राप्त करनेवाला 'शम्भू:' इसका ऋषि है। यह अपने में शान्ति उत्पन्न करता है। इसकी प्रार्थना का स्वरूप यह है—

२८. [अष्टाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शम्भूः** ॥ देवता—**जरिमा, आयुः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

सूर्यसम्पर्क व दीर्घजीवन

तुभ्यमेव जरिमन्वर्धतामुयं मेममुन्ये मृत्यवो हिंसिषुः शतं ये।
मातेव पुत्रं प्रमना उपस्थे मित्र एनं मित्रियात्पात्वंहसः॥ १॥

१. **जरिमन्** (जरैव जरिमा) हे जरे! **अयम्** यह कुमार **तुभ्यम् एव** तेरे लिए ही—तेरे आने तक, चिरकाल तक **वर्धताम्** वृद्धि को प्राप्त होता चले। **इमम्**-इसे **अन्ये**-तुझसे भिन्न **ये** जो **शतम्** सैकड़ों **मृत्यवः**-रोगरूप मृत्यु हैं, वे **मा हिंसिषुः**-मत हिंसित करें। यह यौवन में ही रोगाभिभूत होकर जीवन को समाप्त करनेवाला न हो। २. **इव** जिस प्रकार **प्रमना** प्रमुदित मनवाली **माता** माता **पुत्रम्**-पुत्र को **उपस्थे**-अपनी गोद में रक्षित करती है, उसी प्रकार **एनम्**-इस बालक को **मित्रः**-मृत्यु से बचानेवाला यह सूर्य **मित्रियात्**-सूर्य की अत्युष्णता से होनेवाले **अंहसः**-कष्ट से **पातु**-बचाए। यह बालक सूर्य की गोद में पले—अधिक से-अधिक सूर्य के सम्पर्क में रहे, परन्तु सूर्य की अत्युष्णता से होनेवाले कष्टों से बचा रहे। सूर्य की किरणें इसके शरीर पर पड़कर रोगकृमियों को नष्ट करनेवाली हों।

भावार्थ—सूर्य के सम्पर्क में रहकर, रोगों से बचते हुए, हम पूर्णायुष्य को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—**शम्भूः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सर्वदेव विकास

मित्र एनं वरुणो वा रिशादा जरामृत्युं कृणुतां संविदानौ।
तदुग्निर्होता वयुनानि विद्वान्विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति॥ २॥

१. '**मैत्रं व अहः वारुणी रात्रिः**' (मै० ब्रा० १.७.१०.१) के अनुसार दिन का अधिष्ठाता मित्र वा सूर्य है और रात्रि का अधिष्ठाता वरुण व चन्द्र है। **एनम्**-इस बालक को **मित्रः**-(प्रमीतेः त्रायते) मृत्यु से बचानेवाला सूर्य **वा** तथा **रिशादाः** (अद् असुन) हिंसकों को खा जानेवाला **वरुणः**-रोगों का निवारण करनेवाला चन्द्रमा—ये दोनों **संविदानौ**-ऐकमत्य को प्राप्त हुए हुए, अर्थात् मिलकर कार्य करते हुए **जरामृत्युम्** बुढ़ापे से ही होनेवाली मृत्युवाला **कृणुताम्** करें। यह युवावस्था में ही समाप्त न हो जाए। सूर्य इसके अन्दर प्राणशक्ति का सञ्चार करे '**प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः**' तथा चन्द्रमा ओषधीश होता हुआ इसके दोषों का निवारण करे। २. **तत्** इसप्रकार सूर्य व चन्द्र के सम्पर्क में जीवन बिताने पर वह **होता** सब आवश्यक पदार्थों का दाता **वयुनानि विद्वान्**-सब प्रज्ञानों को जानता हुआ, **अग्निः**-सब देवों का अग्रणी प्रभु इस व्यक्ति के जीवन में **देवानाम्**-सूर्यादि देवों के **विश्वाजनिमा** सब विकासों को **विवक्ति**-विशिष्टरूप से कहनेवाला होता है। प्रभुकृपा से इनकी आँखों में सूर्य की शक्ति का प्रादुर्भाव होता है तो वाणी में अग्नि, नासिका में वायु और मन में चन्द्रमा की शक्ति का। इसप्रकार इसका जीवन सब देवशक्तियों के विकासवाला बनकर बड़ा उत्तम व दीर्घ बनता है।

भावार्थ—सूर्य, चन्द्रमा व अन्य सब देव हमारे जीवन को दीर्घ बनानेवाले हों।

ऋषिः—**शम्भूः** ॥ देवता—**जरिमा, आयुः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्राणापान की अनुकूलता तथा मित्र-अमित्रों से अभय

त्वमीशिषे पशूनां पार्थिवानां ये जाता उत वा ये जनित्राः।
मेमं प्राणो हासीन्मो अपानो मेमं मित्रा वधिषुर्मो अमित्राः॥ ३॥

१. हे प्रभो! **त्वम्**-आप ही **पार्थिवानाम्**=इस पृथिवी पर उत्पन्न **पशूनाम्** सब प्राणियों के **ईशिषे**-ईश हैं। **ये**-जो प्राणी **जाता**-उत्पन्न हो गये हैं **उत वा**-अथवा **ये**-जो **जनित्राः** उत्पन्न होंगे, सभी के आप ईश हैं। २. **इमम्**=इस नवजात सन्तान को **प्राणः** प्राण **मा हासीत्**-मत छोड़ जाए **मा उ अपानः**-और अपान भी न छोड़ जाए। प्राणापान के ठीक कार्य करने से यह दीर्घजीवन प्राप्त करे। **इमम्**-इसे **मित्राः**-मित्र **मा वधिषुः**=मत मार डालें **उ**=और **मा अमित्राः**-न ही अमित्र इसका वध करनेवाले हों। मित्रों की अधिकता भी दीर्घजीवन के लिए उतनी ठीक नहीं रहती, क्योंकि उसकी अधिकता हमारे बहुत-से समय का अपहरण कर लेती है और कई बार हम स्वस्थ रहने के लिए कितने ही आवश्यक कार्यों को भी नहीं कर पाते। शत्रुओं की अधिकता तो अशान्ति का कारण बनकर जीवन पर घातक प्रभाव पैदा करती ही है। अन्य स्थान पर यह प्रार्थना है ही कि मित्रों से भी अभय हो और अमित्रों से भी। वस्तुतः दीर्घजीवन के लिए आवश्यक ही है कि हमें मित्रों की अप्रसन्नता का भी भय न बना रहे और शत्रुओं के आक्रमण के भय से भी हम रहित हों।

भावार्थ—प्राणापान की अनुकूलता तथा मित्रों व अमित्रों से अभय हमें दीर्घजीवी बनाए।

ऋषिः—**शम्भूः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यादयः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

द्युलोक व पृथिवीलोक का ऐकमत्य

द्यौष्ट्वा पिता पृथिवी माता जरामृत्युं कृणुतां संविदाने।
यथा जीवा अदितेरुपस्थे प्राणापानाभ्यां गुपितः शतं हिमाः॥ ४॥

१. **त्वा**-तुझे **पिता द्यौः**-पितृस्थानापन्न द्युलोक तथा **माता पृथिवी**-मातृस्थानापन्न पृथिवी **संविदाने**-परस्पर ऐकमत्यवाली होकर **जरामृत्युं कृणुताम्**=पूर्ण जरावस्था में ही मृत्युवाला, अर्थात् दीर्घजीवी करें। द्युलोक तथा पृथिवीलोक की अनुकूलता तेरे दीर्घायुष्य का कारण हो। शरीर में मस्तिष्क ही द्युलोक है तथा शरीर ही पृथिवी है। मस्तिष्क द्युलोक की भाँति ज्ञान से देदीप्यमान हो तथा शरीर पृथिवी की भाँति दृढ़ हो। ऐसा होने पर दीर्घजीवन होना सम्भव है। २. तुझे द्युलोक व पृथिवीलोक की अनुकूलता प्राप्त हो **यथा**=जिससे कि तू **अदितेः उपस्थे**-इस पृथिवी की गोद में(अदिति अखण्डन, स्वास्थ्य का न टूटना) स्वास्थ्य की गोद में **प्राणापानाभ्यां गुपितः**=प्राणापान से रक्षित हुआ-हुआ **शतं हिमाः**=पूरे सौ वर्ष **जीवाः**=जीनेवाला हो।

भावार्थ—हम द्युलोक व पृथिवीलोक की अनुकूलता से सौ वर्ष तक जीनेवाले बनें। प्राणापान से रक्षित होकर हम दीर्घजीवी हों।

ऋषिः—**शम्भूः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यादयः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

अग्नि, मित्र, वरुण

इममग्न आयुषे वर्चसे नय प्रियं रेतो वरुण मित्र राजन्।
मातेवास्मा अदिते शर्म यच्छ विश्वेदेवा जरदष्टिर्यथासत्॥ ५॥

१. हे **अग्ने**=उन्नति के साधक प्रभो! **वरुण**=सब द्वेष आदि का निवारण करनेवाले!

मित्र प्रमीति (मृत्यु व पाप) से बचानेवाले अथवा सबके प्रति स्नेह करनेवाले **राजन्**-हम सबके जीवन को शासित करनेवाले प्रभो! **इमम्**-इस हमारी सन्तान को **आयुषे**-दीर्घजीवन के लिए, **वर्चसे**-रोगों से संघर्ष करने में समर्थ शक्ति के लिए **प्रियं रेतः**-तृप्ति व कान्ति को देनेवाले (प्री तर्पणे कान्तौ च) रेतस् को—वीर्य को **नय**-प्राप्त कराइए। इस रेतस् को प्राप्त करके यह रोगों को पराजित करता हुआ दीर्घजीवन प्राप्त करे। २. हे **अदिते**-पृथिवी अथवा स्वास्थ्य की अधिष्ठातृदेवते! तू **माता इव**-माता के समान **अस्मै**-इसके लिए **शर्म यच्छ**-कल्याण प्राप्त करा और **विश्वेदेवाः**-हे सब देवो! आप भी ऐसी कृपा करो **यथा**-जिससे यह **जरदष्टिः**-वृद्धावस्था तक कार्यों में व्याप्तिवाला (जीर्यतोऽपि अष्टिः सर्वव्यापारविषया व्याप्तिर्यस्य—सा०) **असत्**-हो। इसका जीवन अन्त तक बड़ा क्रियाशील बना रहे।

भावार्थ—हम अग्नि, मित्र, वरुण व राजा की कृपा से दीर्घजीवी बनें।

सूचना—प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु को अग्नि आदि नामों से स्मरण करना यह सूचित करता है कि दीर्घजीवन के लिए आवश्यक है कि (क) हम क्रियाशील हों (अग्नि, अगि गतौ), (ख) द्वेष से ऊपर उठें (वरुण—वारयति), (ग) सबके लिए स्नेहवाले हों (मित्र, मिद्, स्नेहने), (घ) राजन्-(राजृ दीप्तौ) ज्ञान-दीप्त व व्यवस्थित जीवनवाले हों।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त दीर्घ जीवन के साधनों का उल्लेख कर रहा है। अगले सूक्त का विषय भी यही है, ऋषि 'अथर्वा' है—स्थिर चित्तवृत्तिवाला (न थर्वति)। चित्तवृत्ति की स्थिरता दीर्घजीवन के लिए आवश्यक ही है—

२९. [एकोनत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः —**अथर्वा**॥ देवता —**अग्निः, सूर्यः, बृहस्पतिः**॥ छन्दः —**अनुष्टुप्**॥

आयुष्य व वर्चस्

पार्थिवस्य रसे देवा भगस्य तन्वो३ बले।

आयुष्य ऽमस्मा अग्निः सूर्यो वर्च आ धाद् बृहस्पतिः॥ १॥

१. **देवाः**-सूर्य, वायु, अग्नि आदि सब देव **पार्थिवस्य**-इस पृथिवी से उत्पन्न ओषधियों के **रसे**-रस का सेवनवाले होने पर **भगस्य**-इस श्री-सम्पन्न (भग-श्री) **तन्वः**-शरीर के **बले**-बल के होने पर **अस्मै**-इसके लिए **अग्निः**-अग्नि **आयुष्यम्**-दीर्घजीवन को **आधात्**-स्थापित करे। **सूर्यः**-सूर्य इसमें **वर्चः**-रोगों को पराजित करनेवाली वर्चस् शक्ति को स्थापित करे और इसप्रकार यह **बृहस्पतिः**-बृहस्पति बने। २. शरीर को श्रीसम्पन्न तथा शक्तियुक्त करने के लिए सबसे प्रथम बात तो यह है कि हम पार्थिव ओषधियों के रसों का ही प्रयोग करें, मांसाहार से दूर रहें। देवों का बल पार्थिव रस में है तो मांसाहार में आसुर बल है। ३. दीर्घजीवन की प्रार्थना अग्नि से की है। घर में नियमितरूप से अग्निहोत्र करने पर '**अग्निहोत्रेण प्रणुदा सपत्नान्**' रोगकृमिरूप सपत्नों का नाश होकर दीर्घजीवन मिलता है। यह अग्निहोत्र सौमनस्य का कारण होकर हमारे दीर्घजीवन को सिद्ध करता है। ४. सूर्य अपनी किरणों में प्राणशक्ति को लेकर उदय होता है—'**प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः**'—यह सूर्य क्या उदय होता है, यह तो प्रजाओं का प्राण ही उदय होता है। इसप्रकार अग्नि और सूर्य के अनुग्रह को प्राप्त करनेवाला यह व्यक्ति उन्नत होकर ऊर्ध्वादिक् का अधिपति 'बृहस्पति' बनता है। यही मानव की चरमोन्नति है।

भावार्थ—हम पार्थिव ओषधियों के रस का ही प्रयोग करें, अग्निहोत्र करें, सूर्य किरणों के सम्पर्क में अधिक से-अधिक समय बिताएँ। इसप्रकार उन्नत होकर बृहस्पति बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**जातवेदाः, त्वष्टा, सविता** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

आयुः, प्रजा, धन

आयुरस्मै धेहि जातवेदः प्रजां त्वष्टरधिनिधेह्यस्मै।
रायस्पोषं सवितरा सुवास्मै शतं जीवाति शरदस्तवायम्॥ २॥

१. हे **जातवेदः**=ज्ञान को उत्पन्न करनेवाले प्रभो! **अस्मै**=इस पुरुष के लिए **आयुः धेहि**-आयुष्य को धारण कीजिए। यह पुरुष ज्ञान के द्वारा सब वस्तुओं का ठीक प्रयोग करते हुए दीर्घजीवनवाला बने। २. हे **त्वष्टा**=निर्माण करनेवाले प्रभो! **अस्मै**=इस पुरुष के लिए **प्रजाम्**=प्रकृष्ट विकास को **अधिनिधेहि**=खूब ही धारण कीजिए। यह संसार में सब वस्तुओं के ठीक प्रयोग से अपने अङ्ग-प्रत्यङ्ग का ठीक निर्माण करनेवाला बने। ३. हे **सवितः**=सर्वैश्वर्यसम्पन्न प्रभो! (सू प्रसवैश्वर्ययोः) **अस्मै**=इसके लिए **रायस्पोषम्**=धनों के पोषण को **आसुव**=उत्पन्न कीजिए। यह जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक धनों को उत्पन्न करनेवाला हो। ४. आर्थिक दृष्टिकोण से किसी प्रकार से चिन्ता में न होता हुआ हे प्रभो! **अयम्**-यह **तव** आपका ही बना हुआ **शतं शरदः जीवाति**=शतवर्षपर्यन्त जीनेवाला हो। आर्थिक चिन्ता न हो और अर्थ में मनुष्य डूब ही न जाए तभी वह अपने जीवन को सार्थक बना पाता है। अर्थ में न डूबने के लिए आवश्यक है कि हम प्रभु के ही बने रहें। प्रभुभक्ति से हम श्री से सेवित होते हैं इसके अभाव में तो श्री के सेवक बन जाते हैं, तब दीर्घजीवन होना सम्भव ही नहीं रहता।

भावार्थ—ज्ञान से वस्तुओं का यथायोग करते हुए, सब शक्तियों का ठीक विकास करते हुए और आवश्यक धनों का उत्पादन करते हुए हम दीर्घजीवी बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उत्तम जीवन

आशीर्ण ऊर्जमुत सौप्रजास्त्वं दक्षं धत्तं द्रविणं सचेतसौ।
जयं क्षेत्राणि सहसायमिन्द्र कृण्वानो अन्यानधरान्त्सपत्नान्॥ ३॥

१. प्रभु गृहस्थों से कहते हैं कि **सचेतसौ**=ज्ञान और स्मृतिवाले होते हुए तुम दोनों **नः आशीः**-हमारी इच्छा को—प्रभु-प्राप्ति की कामना को, **ऊर्जम्** बल व प्राणशक्ति को **उत**=और **सौप्रजास्त्वम्**=उत्तम सन्तानों को, **दक्षम्**=उन्नति व कुशलता को तथा **द्रविणम्**=धन को **धत्तम्**-धारण करो। २. **अयम्**=यह गृहपति **इन्द्रः**-जितेन्द्रिय बना रहकर **सहसा**=शत्रुओं का मर्षण कर देनेवाली शक्ति से **जयम्**=विजय को तथा **क्षेत्राणि**=विकास के योग्य शरीरों को (इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमत्यभिधीयते) **कृण्वानः**=करता हुआ। **अन्यान्**=अन्य **सपत्नान्**=काम-क्रोधादि शत्रुओं को **अधरान् कृण्वानः**=पादाक्रान्त करता है। यह शरीर में किसी प्रकार के रोगों को नहीं आने देता।

भावार्थ—उत्तम जीवन का साधन यही है कि हम सचेत बने रहें, प्रभु का स्मरण रक्खें। 'शक्ति सुप्रजा, दक्षता व द्रविण' को सिद्ध करने के लिए यत्नशील हों। विजयी बनें। शरीरों को ठीक रक्खें। काम-क्रोध आदि शत्रुओं को प्रबल न होने दें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ, विश्वेदेवाः, मरुतः, आपः** ॥ छन्दः—**पराबृहती-निचृत्प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

सन्तान

इन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टो मरुद्भिरुग्रः प्रहितो न आगन्।
एष वां द्यावापृथिवी उपस्थे मा क्षुधन्मा तृषत्॥ ४॥

१. यह सन्तान **इन्द्रेण दत्तः**-उस परमैश्वर्यशाली प्रभु से दिया गया है। प्रभु की कृपा से सब सन्तान प्राप्त हुआ करते हैं। २. **वरुणेन शिष्टः**-(आचार्यो मृत्यु ओषधयः पयः) वरुण के द्वारा यह अनुशासन को प्राप्त कराया गया है। आचार्य ने इसे उत्तम अनुशासन में रखकर ज्ञान प्राप्त कराया है। ३. **मरुद्भिः उग्रः**=प्राणों से यह तेजस्वी बना है। इसप्रकार **प्रहितः**-(हि वृद्धौ, promote) वृद्धि को प्राप्त करता हुआ **वाम् उपस्थे**-आपकी गोद में **मा क्षुधत्**-मत भूखा रहे **मा तृषत्**-और न ही प्यासा रहे। यह ठीक खान पान प्राप्त करता हुआ दीर्घजीवी हो।

भावार्थ—(क) 'सन्तानों को हम प्रभु से दिया गया समझें', ऐसा होने पर हम उनके पालन को 'प्रभु का कार्य करना समझेंगे', (ख) उत्तम आचार्यों से उनका शिक्षण हो, (ग) प्राणसाधना की प्रवृत्ति इनमें पैदा की जाए, (घ) इनका खान पान ठीक हो, ऐसा होने पर ये अवश्य दीर्घजीवी बनेंगे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ, विश्वेदेवाः, मरुतः, आपः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ऊर्ज्+पयस्

ऊर्जमस्मा ऊर्जस्वती धत्तं पयो अस्मै पयस्वती धत्तम्।
ऊर्जमस्मै द्यावापृथिवी अधातां विश्वेदेवा मरुत ऊर्जमापः॥ ५॥

१. सन्तान की उत्तमता के लिए माता पिता को पौष्टिक अन्न व दूध का ग्रहण करना चाहिए। उन्हें पौष्टिक अन्न व दूध की कमी न हो। **ऊर्जस्वती**=हे पौष्टिक अन्नवाले माता पिताओ! आप **अस्मै** इस उत्तम सन्तान की प्राप्ति के लिए **ऊर्जम्**=पौष्टिक अन्न को **धत्तम्** धारण करो। **पयस्वती** उत्तम दूधवाले होते हुए **अस्मै**-इस सन्तान की प्राप्ति के लिए **पयः धत्तम्**-दूध का धारण करो। माता पिता 'ऊर्ज् व पयस्' को धारण करनेवाले हों। उत्तम ओषधियों का रस ही 'ऊर्ज्' है। गवादि पशुओं का दूध 'पयस्' है। इनका प्रयोग करनेवाले माता-पिता उत्तम सन्तान प्राप्त करते हैं। २. अब इस सन्तान के होने पर **द्यावापृथिवी** द्युलोकरूप पिता व पृथिवीलोकरूप माता **अस्मै** इस सन्तान के लिए **ऊर्जम्** बल व प्राणशक्ति को **अधाताम्** धारण कराते हैं, तथा **विश्वेदेवाः**-सूर्यादि सब देव अथवा माता-पिता व आचार्य आदि देव, **मरुतः** प्राण तथा **आपः** जल **ऊर्जम्**-बल व प्राणशक्ति देते हैं। ३. पूर्वार्ध में 'पयस्' के सान्निध्य से ऊर्ज् शब्द का अर्थ पौष्टिक अन्न लिया है। माता पिता 'ऊर्ज् व पयस्' का प्रयोग करनेवाले हो, ऐसा होने पर ही सन्तानों का उत्तम होना सम्भव है। उत्तरार्ध में 'ऊर्ज्' का भाव बल व प्राणशक्ति लिया गया है। सब देवों की अनुकूलता होने पर बल व प्राणशक्ति प्राप्त होती है।

भावार्थ—माता पिता 'ओषधि-रसों व दुग्ध' का सेवन करनेवाले हों। सन्तान देवों की अनुकूलता में जीवन बिताए।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

जल व तक्र का प्रयोग

शिवाभिष्टे हृदयं तर्पयाम्यनमीवो मोदिषीष्ठाः सुवर्चाः।
सवासिनौ पिबतां मन्थमेतमश्विनो रूपं परिधाय मायाम्॥ ६॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति पर 'आपः' शब्द आया है। उन्हीं का संकेत करते हुए कहते हैं कि **शिवाभिः** इन कल्याण करनेवाले जलों से **ते**-तेरे **हृदयम्**=हृदय को **तर्पयामि**=तृप्त करता हूँ। ये तेरे लिए हृद्य—हृदय को शान्ति देनेवाले हों। इनके ठीक प्रयोग से **अनमीवः**=नीरोग होता हुआ तू **सुवर्चाः**-उत्तम वर्चस् व तेजवाला बनकर **मोदिषीष्ठाः**-आनन्द का अनुभव कर। जल

का समुचित प्रयोग वस्तुतः तृप्ति देनेवाला है, नीरोगता का साधन है, शक्तिशाली बनाता है और इसप्रकार आनन्दित करता है। २. घर में पति-पत्नी के लिए कहते हैं कि तुम दोनों **सवासिनौ**=घर में मिलकर, प्रेम से रहनेवाले होकर **अश्विनोः रूपम्**=द्यावापृथिवी के रूप को **परिधाय**=धारण करके(इमे ह वै द्यावापृथिवी प्रत्यक्षमश्विनौ— श० ४.१.५.१६, पति द्युलोक के समान है तो पत्नी पृथिवीलोक के) **मायाम् परिधाय**=प्रज्ञा को प्राप्त करे **एतम्**=इस **मन्थम्**-मन्थन से उत्पन्न तक्र (छाछ) को पीओ। इस तक्र के प्रयोग से प्राय: सब रोग दग्ध हो जाते हैं (न तक्रदग्धाः प्रभवन्ति रोगाः)। शरीर में आँतों के अन्तिम प्रदेश में कुछ ऐसे कृमि हो जाते है जो इस तक्र से ही समाप्त होते हैं।

भावार्थ—जल व तक्र के प्रयोग से पति-पत्नी स्वस्थ बनते हैं। द्यावापृथिवी के समान मस्तिष्क में प्रकाशमय व शरीर में दृढ़ होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

मन्थ का महत्त्व

इन्द्रं एतां संसृजे विद्धो अग्रं ऊर्जां स्वधामजरां सा तं एषा।

तया त्वं जीव शरदः सुवर्चा मा त आ सुंस्रोद्भिषजंस्ते अक्रन्॥ ७॥

१. **विद्धः इन्द्रः** (विधेम=परिचरेम—नि० ३.५) उपासित हुए-हुए इन्द्र ने **एताम्**-इस मन्थरूप पेय द्रव्य को **ससृजे**=उत्पन्न किया है। **अग्रे ऊर्जाम्**=यह सर्वाधिक बल व प्राणशक्ति को देनेवाला है, **अजराम्**=यह जीर्ण न होने देनेवाला है, **सा एषा**=वह यह पेय द्रव्य **ते**-तेरे लिए है। **तया**=उससे **त्वम्**=तू **शरदः**=वर्षों (सौ वर्षों तक) **जीव**=जीनेवाला हो। **सुवर्चाः**-तू उत्तम वर्चस्वाला बन। २. **ते**-तरे शरीर से **मा आसुस्रोत्**=शक्ति का प्रच्याव (विनाश) न हो। **भिषजः**=वैद्यों ने **ते**=तेरे लिए **अक्रन्**=इस मन्थ (तक्र) को औषध के रूप में किया है। यह तेरे लिए औषध बन गया है।

भावार्थ—प्रभु के उपासक प्रभु से दी गई इस छाछ को पीते हैं। यह उनके बल को स्थिर रखती है, शरीर का धरण करती है और उन्हें जीर्ण नहीं होने देती।

विशेष—यह सूक्त दीर्घायुष्य के साधनों का उल्लेख करता है(क) प्रथम उपाय है पार्थिव ओषधियों के रसों का ही प्रयोग हो, (ख) समाप्ति पर मन्थ के प्रयोग का उल्लेख है, (ग) 'पार्थिव ओषिधियों का प्रयोग करें, छाछ पीएँ ' इससे दीर्घ जीवन होगा। इस दीर्घ जीवन के लिए पति-पत्नी का परस्पर प्रेम अत्यावश्यक है। इसी बात का उल्लेख अगले सूक्त में करते हैं। ऐसे पति-पत्नी ही उत्तम सन्तान को प्राप्त करते हैं। इस उत्तम सन्तानवाला 'प्रजापति' ही इस सूक्त का ऋषि है।

३०. [त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**मनः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

पति-पत्नी का परस्पर प्रेम

यथेदं भूम्या अधि तृणं वातो मथायति।

एवा मंथ्नामि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः॥ १॥

१. **यथा**=जैसे **भूम्या अधि**=इस भूमि पर **इदं तृणम्**=इस तृण को **वातः**=वायु **मथायति**=आन्दोलित कर देता है, **एव**=इसप्रकार हे युवति! **ते मनः**=तेरे मन को **मथ्नामि**-मैं आलोडित करता हूँ, **यथा**-जिससे **मां कामिनी असः**=तू मुझे चाहनेवाली हो **यथा**=जिससे **मत्**=मुझसे

अपगाः-दूर जानेवाली **न असः**-न हो। इन शब्दों में एक युवक एक युवति के मन को अपनी ओर आकृष्ट करता है। यदि युवति में युवक के लिए आकर्षण न होगा अथवा युवति के लिए युवक में आकर्षण न होगा तो उनका परस्पर सम्बन्ध देर तक न रह पाएगा। यह सम्बन्ध की कटुता उनके जीवन के लिए दुष्परिणाम पैदा करेगी। परस्पर का प्रेम आवश्यक है।

भावार्थ—युवक व युवति परस्पर प्रेम से एक-दूसरे के साथी बनते हैं, तो परस्पर के व्रतों को ठीक निभाते हुए एक-दूसरे की शान्ति और दीर्घजीवन का कारण बनते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सब-कुछ सम्मिलित

सं चेन्नयाथो अश्विना कामिना सं च वक्षथः।
सं वां भगासो अग्मत सं चित्तानि समु व्रता॥ २॥

१. हे **आश्विना** कर्मों में व्याप्त होनेवाले पति-पत्नी! तुम इस बात का ध्यान करो कि **इत्**-निश्चय से **सन्नयाथा**-तुम एक-दूसरे की आवश्यकताओं को सम्यक् प्राप्त करानेवाले होते हो **च** और **कामिना**-एक दूसरे को चाहनेवाले तुम **संवक्षथः**-कार्यों को सम्यक् धारण करते हो। २. **च**-तथा **वां भगासः**-आपके ऐश्वर्य **सम्+अगमत्**-संगत ही होते हैं, **चित्तानि सं** (अगमत्) आपके चित्त मिले हुए होते हैं **उ**-और **व्रता**-आपके व्रत **सम्**-मिले हुए होते हैं। इन सबका मिलकर होना आपको एक बनाये रखता है। एकता के परिणामस्वरूप आपके चित्तों में शान्ति बनी रहती है। यह शान्ति दीर्घजीवन का कारण बनती है।

भावार्थ—पति-पत्नी का सब-कुछ सम्मिलित होना चाहिए। यह मेल ही उन्हें दीर्घजीवी बनाता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**ओषधिः** ॥ छन्दः—**भूरिगनुष्टुप्** ॥

सुपर्ण व अनमीव

यत्सुपर्णा विवक्षवो अनमीवा विवक्षवः। तत्र मे गच्छताद्धवं शल्यइव कुल्मलं यथा॥ ३॥

१. **यत्**-जिस गृहस्थ को **सुपर्णाः**-उत्तमता से पालन व पूरण करनेवाले ही **विवक्षवः**-वहन करने की इच्छावाले होते हैं, जिसे **अनमीवाः** नीरोग पुरुष ही **विवक्षवः** वहन करने की कामना करते हैं, **तत्र**-उस गृहस्थ के विषय में **मे हवम्**-मेरी प्रार्थना **गच्छतात्**-जाए, अर्थात् मैं सुपर्ण और अनमीव बनकर ही गृहस्थ में जाने की कामना करूँ। गृहस्थ में जाने का अधिकार वस्तुतः सुपर्ण और अनमीव को ही हो। २. मैं गृहस्थ में इसप्रकार जाऊँ, **इव**-जैसे **शल्यः**-बाण की कील **यथा**-ठीक प्रकार से **कुल्मलम्**-बाणदण्ड पर जाती है। बाणदण्ड में गड़कर यह कील दण्ड से अग्रभाग को जोड़ती है। मेरा सुपर्णत्व व अनमीवत्व भी गृहस्थ सम्बन्ध की दृढ़ता का कारण बने। ३. पति उत्तमता से पालन करनेवाला न हो तथा सदा अस्वस्थ रहता हो तो ये बातें सम्बन्ध की शिथिलता का कारण बनती हैं।

भावार्थ—मैं 'सुपर्ण व अनमीव' बनकर गृहस्थ को उत्तमता से चलानेवाला बनूँ।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**ओषधिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

जो अन्दर वही बाहर (निश्छलता)

यदन्तरं तद्बाह्यं यद्बाह्यं तदन्तरम्। कन्या[नां विश्वरूपाणां मनो गृभायौषधे॥ ४॥

१. पति पत्नी के हृदय पर तभी काबू पा सकता है जब पत्नी को यह विश्वास हो जाए कि पति उससे किसी प्रकार का छिपाव नहीं रख रहे। मन्त्र में कहा है कि **ओषधे**-अपने दोषों

का दहन करनेवाले पुरुष! तू जीवन का यह सूत्र बना कि **यत् अन्तरम्**=जो अन्दर है **तत् बाह्यम्**-वही बाहर हो, **यत् बाह्यम्**=जो बाहर हो **तत् अन्तरम्**=वही अन्दर हो। तेरा अन्दर व बाहर एक हो—किसी प्रकार का छल-छिद्र व छिपाव न हो। २. ऐसा करने पर **विश्वरूपाणाम्**=भिन्न-भिन्न रूपोंवाली, अर्थात् भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वभाव व रुचियोंवाली सभी **कन्यानाम्**-कन्याओं के **मनः गृभाय**=मन को तू ग्रहण करनेवाला हो। पत्नी का कैसा भी स्वभाव हो, परन्तु उसे यह विश्वास हो कि पति उससे किसी प्रकार का छिपाव नहीं रखते तो वह उनके प्रति अनन्य भाव से प्रेमवाली रहती है। पति के लिए इससे अधिक शान्ति देनेवाली और कोई बात नहीं हो सकती।

भावार्थ—पति पत्नी से किसी प्रकार का छिपाव न रखकर उसके हृदय को जीत लेता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**दम्पती** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पतिकामा-जनिकामः

एयमगन्पतिकामा जनिकामोऽहमागमम्।
अश्वः कनिक्रदद्यथा भगेनाहं सहागमम्॥ ५ ॥

१. **इयम्**=यह **पतिकामा**=पति को प्राप्त करने की कामनावाली **आ अगन्**-प्राप्त हुई है। इन शब्दों से स्पष्ट है कि युवति अपने पूर्ण यौवन में आकर पति को प्राप्त करने की कामनावाली हुई है। इसीप्रकार **अहम्**=मैं **जनिकामः**=पत्नी की कामनावाला **आगमम्**-आया हूँ। युवक भी पूर्ण तारूण्य को प्राप्त करके पत्नी की कामनावाला हुआ है। 'युवक व युवति परस्पर एक-दूसरे को चाहते हैं', यह भाव भी इन शब्दों से व्यक्त हो रहा है। २. युवक कहता है कि **यथा**=जैसे **कनिक्रदत्**=खूब हिनहिनाता हुआ **अश्वः**-घोड़ा होता है, उसी प्रकार शक्ति के कारण शक्तिशाली वाणी को प्रकट करता हुआ मैं **भगेन सह**=ऐश्वर्य के साथ **आगमम्**=आ गया हूँ। इन शब्दों से पति बनने की कामनावाले युवक के लिए दो बातों की आवश्यकता स्पष्ट हो रही है।(क) एक तो वह शक्तिशाली हो और(ख) दूसरे, वह धन कमाने की योग्यतावाला हो। 'धन व शक्ति दोनों ' ही बातें गृहस्थ को सुन्दरता से निभाने के लिए आवश्यक हैं।

भावार्थ—युवावस्था में परस्पर एक-दूसरे के चाहनेवालों का ही विवाह हो। पति जहाँ तारुण्य की शक्तिवाला हो, वहाँ धन कमाने की योग्यता भी रखता हो।

विशेष—प्रस्तुत सूक्त में पति-पत्नी के पारस्परिक प्रेम के विषय का उल्लेख है। दीर्घजीवन के लिए इसका होना आवश्यक ही है। इस दीर्घजीवन के लिए और नीरोगता की सिद्धि के लिए कण्वों (A peculiar class of evil spirits-रोगकृमि) का संहार भी आवश्यक है। इन कण्वों का संहार करनेवाले 'काण्व' अगले सूक्त का ऋषि है।

३१. [एकत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**मही** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मही दृषत्

इन्द्रस्य या मही दृषत्क्रिमेर्विश्वस्य तर्हणी।
तया पिनष्मि सं क्रिमीन्दृषदा खल्वाँइव॥ १ ॥

१. **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष की **या**-जो **मही**=महनीय **दृषत्**=शिला है, अर्थात् (**मही**=पृथिवी) पत्थर के समान दृढ़ यह शरीररूप पृथिवी है, यह **विश्वस्य क्रिमेः**=शरीर में प्रविष्ट हो जानेवाले कृमियों का **तर्हणी**=नाश करनेवाली है। जब एक व्यक्ति जितेन्द्रिय बनता है तब उसका शरीर

पत्थर के समान दृढ़ हो जाता है। इस शरीर में जो भी रोगकृमि प्रवेश करते हैं, वे इस जितेन्द्रिय की वीर्यशक्ति से कम्पित होकर नष्ट हो जाते हैं। २. **तया** उस महनीय दृषत् से मैं **क्रिमीन्**-इन रोगकृमियों को ऐसे **संपिनष्मि**- पीस डालता हूँ, **इव**-जैसे **दृषदा**-पत्थर से **खल्वान्**=(चणकान्—सा०) चनों को पीस डालते हैं।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष का शरीर एक महनीय दृषत् के समान होता है, जिससे रोगकृमि इसप्रकार पिस जाते हैं, जैसे पत्थर से चने।

ऋषिः -**काण्वः** ॥ देवता—**क्रिमिजम्भनम्** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्विराड्बृहती** ॥

वचा के प्रयोग से कृमिनाश

दृष्टमदृष्टमतृहमथो कुरूरुमतृहम्।
अल्गण्डून्त्सर्वान्छलुनान्क्रिमीन्वचसा जम्भयामसि॥ २॥

१. **दृष्टम्**=आँखों से दीखनेवाले **अदृष्टम्** आँखों से न दीखनेवाले कृमियों को **अतृहम्** मैं नष्ट करता हूँ, **अथ उ**-और निश्चय से **करूरुम्**-(कौ रवते गच्छति) पृथिवी पर रेंगनेवाले या (कुत्सितं रौति) कुत्सित शब्द करनेवाले कृमियों को **अतृहम्**- नष्ट करता हूँ। २. **अल्गण्डून्**-(गडि वदनैकदेशे, अलं वारणे) गण्डस्थल की क्रिया को रोकनेवाले कृमियों को तथा **शलुनान्** (शल् to tremble) अत्यन्त कम्पित करनेवाले **सर्वान् क्रिमीन्**=सब कृमियों को **वचसा जम्भयामसि**=(a kind of aromatic root) तीव्र गन्धवाली वचा ओषधि के मूल से नष्ट करता हूँ। इस ओषधि के तीव्र गन्ध से सब कृमि नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ—वचा ओषधि के प्रयोग से हम सब प्रकार के रोगकृमियों को नष्ट करें।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**क्रिमिजम्भनम्** ॥ छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्** ॥

कृमियों का समूलोच्छेद

अल्गण्डून्हन्मि महता वधेन दूना अदूना अरसा अभूवन्।
शिष्टानशिष्टान्नि तिरामि वाचा यथा क्रिमीणां नकिरुच्छिषातै॥ ३॥

१. **अल्गण्डून्** मुख अवयवों की क्रिया को रोकनेवाले अथवा (शोणितमांसदूषकान्—सा०) रुधिर व मांस में विकार उत्पन्न करनेवाले कृमियों को **महता वधेन**-प्रबल बध (आक्रमण) के द्वारा **हन्मि**-नष्ट करता हूँ। इन कृमियों के नाश के लिए अभियान ही करता हूँ। २. **दूनाः** ओषधियों के प्रभाव से सन्तप्त हुए-हुए (दु-उपतापे-दुनोति) **अदूनाः**-गतिशून्य (दु गतौ)—ये सब कृमि **अरसाः**-जीवनशून्य **अभूवन्** हो गये हैं। ३. **शिष्टान्**-बचे हुए **अशिष्टान्** अभी तक जो शासित नहीं हो सके (शास्) उन कृमियों को **वचा** वचा ओषधि के प्रयोग से **नितिरामि** हिंसित करता हूँ, यथा जिससे **क्रिमीणाम्**-इन कृमियों में से **नकिः उच्छिषातैः**-कोई बचता नहीं है। इनका समूलोच्छेद हो जाता है।

भावार्थ—वचा ओषधि के प्रयोग से हम सब कृमियों का समूलोच्छेद करते हैं।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**क्रिमिजम्भनम्** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्विराड्बृहती** ॥

विविध रोगकृमि

अन्वान्त्र्यं शीर्षण्य१ मथो पार्ष्टेयं क्रिमीन्।
अवस्कवं व्यध्वरं क्रिमीन्वचसा जम्भयामसि॥ ४॥

१. **अन्वान्त्रयम्**=क्रमशः आँतों में फैलते जानेवाले कृमियों को **शीर्षण्यम्**-सिर में विकार

के कारणभूत कृमियों को **अथ उ**=और निश्चय से **पार्ष्टेयम्**=(पृष्टिषु पार्श्वावयवेषु भवम्) पसलियों में होनेवाले **क्रिमीन्**=रोगकृमियों को **वचसा**=वचा ओषधि के प्रयोग से **जम्भयामसि**=हम नष्ट करते हैं। २. **अवस्कवम्**=(अव+स्कुञ् आप्रवणे) नीचे की ओर के स्वभाववाले—अन्दर और अन्दर प्रवेश करते चलने के स्वभाववाले तथा **व्यध्वरम्**=(वि+अध्व) विविध मार्गोंवाले, अनेक द्वार बनाकर गति करते हुए **क्रिमीन्**-सब कृमियों को हम **वचसा जम्भयामसि**=वचा ओषधि के द्वारा नष्ट करते हैं।

भावार्थ—'अन्वान्त्र्य, शीर्षण्य, पार्ष्टेय, अवस्कव, व्यध्वर' आदि सब कृमियों को हम वचा ओषधि के द्वारा नष्ट करते हैं।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**क्रिमिजम्भनम्** ॥ छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्** ॥

कृमि-जन्मोच्छेद

ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्वप्स्व१न्तः।
ये अस्माकं तन्व॑माविविशुः सर्वं तद्धन्मि जनिम क्रिमीणाम्॥ ५॥

१. **ये**=जो **क्रिमयः**=कृमि **पर्वतेषु**-पर्वतों में हैं, **वनेषु**-वनों में हैं, **ओषधिषु**=ओषधियों में हैं, **पशुषु**=पशुओं में हैं अथवा **अप्सु अन्तः**=जलों में हैं **तत्**=उन **सर्वम्**=सब **क्रिमीणाम्**=कृमियों के **जनिम**=जन्म को **हन्मि**=मैं नष्ट करता हूँ। उल्लिखित पर्वत आदि के सम्पर्क में आने पर **ये** जो कृमि **अस्माकम्**=हमारे **तन्वम्**=शरीर में **आविविशुः**=प्रवेश कर गये हैं, उन सब कृमियों के फैलाव (जनिम=विकास) को भी मैं नष्ट करता हूँ।

भावार्थ—पर्वत, वन, ओषधि, पशु व जलों में होनेवाले रोगकृमि हमारे शरीरों में भी प्रवेश कर जाते हैं, हम उन्हें विनष्ट करें।

विशेष—प्रस्तुत सूक्त में रोगकृमियों के लिए दो बातों का संकेत हैं (क) जितेन्द्रिय बनकर शरीर को पत्थर के समान दृढ़ बनाना (इन्द्रस्य मही दृषत्) तथा (ख) वचा ओषधि का प्रयोग (वचसा)। अगले सूक्त का भी यही विषय है। यहाँ आदित्य किरणों से कृमिनाश का संकेत है।

३२. [द्वात्रिंशं]

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**त्रिपाद्भुरिग्गायत्री** ॥

उदय व अस्त होता हुआ सूर्य

उद्यन्नादित्यः क्रिमीन्हन्तु निम्रोचन्हन्तु रश्मिभिः। ये अन्तः क्रिमयो गवि॥ १॥

१. **उद्यन्**=उदय होता हुआ **आदित्यः**=सूर्य **क्रिमीन् हन्तु**=रोगकृमियों को नष्ट करे। उदय होते हुए सूर्य की किरणों में इसप्रकार की शक्ति होती है कि हमारे शरीरों में स्थित रोगकृमि नष्ट हो जाते हैं। २. इसीप्रकार **निम्रोचन्**=अस्त होता हुआ सूर्य भी **रश्मिभिः**=अपनी किरणों से उन रोगकृमियों को **हन्तु**=नष्ट करे **ये**=जो **क्रिमयः**=कृमि **गवि अन्तः**-गौ के शरीर में स्थित हैं। सूर्य-किरणों में विचरण करनेवाली गौएँ निर्दोष दुग्धवाली होती हैं।

भावार्थ—उदय व अस्त होता हुआ सूर्य अपनी किरणों से रोगकृमियों को नष्ट करता है।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विश्वरूप चतुरक्ष कृमि

विश्वरूपं चतुरक्षं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम्। शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः॥ २॥

१. **विश्वरूपम्**-नाना आकारोंवाले, **चतुरक्षम्**=चार नेत्रोंवाले, **सारङ्गम्**=शबल (sable)

वर्णवाले अथवा **अर्जुनम्**-शुभ्र वर्णवाले—इसप्रकार अनेक आकारोंवाले **क्रिमिम्**=कृमियों को नष्ट करता हूँ। २. **अस्य**-इन कृमियों की **पृष्टिः अपि**-पार्श्वावयवों को भी **शृणामि**-हिंसित करता हूँ और **अस्य**=इनका **यत् शिरः**-जो सिर व प्रधान अङ्ग है, उसे भी **वृश्चामि**-छिन्न करता हूँ। इसप्रकार इसे नष्ट करके इसे रोगोत्पादन के सामर्थ्य से शून्य करता हूँ।

भावार्थ—हम सूर्यकिरणों से विश्वरूप, चतुरक्ष कृमियों का विनाश करते हैं।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अत्रि, कण्व, जमदग्नि, अगस्त्य

अत्रिवद्वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत्।
अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्म्यहं क्रिमीन्॥ ३॥

१. हे **क्रिमयः**-रोगकृमियो! मैं **अत्रिवत्**=अत्रि की भाँति **वः हन्मि**-तुम्हें नष्ट करता हूँ, **कण्ववत्**-कण्व की भाँति तथा **जमदग्निवत्**-जमदग्नि की भाँति तुम्हें नष्ट करता हूँ। २. **अहम्** मैं **अगस्त्यस्य**-अगस्त्य के **ब्रह्मणा**-ज्ञान से **क्रिमीन्**-क्रिमियों को **सम्पिनष्मि**=सम्यक्तया पीस डालता हूँ। ३. अत्रि वह व्यक्ति है जो 'अ+त्रि'-'काम-क्रोध-लोभ' इन तीनों से अलग रहता है। ऐसे व्यक्ति के शरीर में रोगकृमियों का प्राबल्य नहीं हो पाता। 'कण्व' वह व्यक्ति है जोकि मेधावी होता हुआ आसुर शक्तियों (Evil spirits) को नष्ट करने का प्रयत्न करता है। इसपर भी रोगकृमियों का आक्रमण नहीं होता। 'जमदग्नि' वह है जिसकी जाठराग्नि **जमत्**-खानेवाली है, अर्थात् जिसकी जाठराग्नि मन्द नहीं है। यह भी इन रोगकृमियों का शिकार नहीं होता। ४. 'अत्रि कण्व व जमदग्नि' के अतिरिक्त अगस्त्य भी अपने ज्ञान से इन कृमियों का संहार करनेवाला होता है। 'अगस्त्य' वह है जोकि **अगम्**-कुटिलता को **स्त्यायति**=(संहन्ति) नष्ट करता है। मन की अकुटिलता का शरीर के स्वास्थ्य पर भी वाञ्छनीय प्रभाव पड़ता है। यह अगस्त्य ज्ञानपूर्वक पवित्र व्यवहार करता हुआ शरीर में भी नीरोग बना रहता है।

भावार्थ—हम 'अत्रि, कण्व, जमदग्नि व अगस्त्य' बनकर रोगकृमियों को नष्ट करनेवाले हों।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सराष्ट्र 'कृमि' विनाश

हतो राजा क्रिमीणामुतैषां स्थपतिर्हतः। हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा॥ ४॥

१. **क्रिमीणां राजा हतः**=गतमन्त्र में वर्णित कृमियों का राजा अगस्त्य के द्वारा विचारपूर्वक किये गये औषधप्रयोग से (मन्त्रौषधि प्रयोग से) मारा गया है, **उत**-और **एषाम्**-इन कृमियों का **स्थपतिः**=स्थान का रक्षक अथवा सचिव **हतः**-मारा गया है। २. **हतमाता**=जिसकी माता का विनाश कर दिया गया है, **हतभ्राताः**=जिसके भाई को मार दिया गया है। **उत स्वसा**-जिसकी बहिन को भी नष्ट कर दिया गया है, ऐसा यह **क्रिमिः**-कृमि **हतः**=हिंसित हुआ है। संक्षेप में अपने सारे परिवार व राष्ट्रसहित यह कृमि समाप्त हो गया है।

भावार्थ—ज्ञानपूर्वक ओषधिप्रयोग से रोगकृमियों का मूलोच्छेद कर दिया जाता है।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

बीजोच्छेद

हतासो अस्य वेशसो हतासः परिवेशसः।
अथो ये क्षुल्लकाइव सर्वे ते क्रिमयो हताः॥ ५॥

१. **अस्य**-इस कृमि-कुल के **वेशसः**=निवेशनस्थानभूत मुख्य गृह ही **हतासः**-नष्ट कर दिये

गये हैं। जैसे जलाकर घर को नष्ट कर दिया जाता है, उसी प्रकार कृमियों के बनाये गये घर को नष्ट कर दिया गया है। **परिवेशसः**=इस कृमिकुलगृह के चारों ओर स्थित गृह भी **हतासः**=नष्ट कर दिये गय हैं। जो त्वचा व्रणित होती है उसे तो ओषध से जलाते ही हैं, उसके आस-पास के कुछ भाग को भी जला देते हैं। २. **अथ उ**=और अब **ये**=जो **क्षुल्लाकाः इव**=बीज अवस्था में सूक्ष्मरूप, दुर्लक्ष से **क्रिमयः**=कृमि हैं, **ते सर्वे**=वे सबके सब **हतः**=नष्ट कर दिये गये हैं।

भावार्थ—नीरोगता के लिए आवश्यक है कि कृमियों का बीजोच्छेद ही कर दिया जाए।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**चतुष्पान्निचृदुष्णिक्** ॥

कृमियों के शृङ्ग व कुषुम्भ का विनाश

प्र ते शृणामि शृङ्गे याभ्यां वितुदायसि। भिनद्मि ते कुषुम्भं यस्ते विषधानः ॥ ६ ॥

१ हे रोगकृमे! मैं **ते**=तेरे **शृंगे**=शृंगों को—सींग की भाँति कष्ट देनेवाले अङ्गों को **प्रशृणामि**=पूर्णरूप से समाप्त करता हूँ, **याभ्याम्**=जिनसे **वितुदायसि**=तू पीड़ित करता है। २. ते **कुषुम्भम्**=(कुशुम्भ-कुसुम्भ=water pot) तेरे इस जल-पात्र को भी मैं **भिनद्मि**=विदीर्ण करता हूँ, **यः**=जो **ते**=तेरे **विषधानः**=विषधारण का काम देता है।

भावार्थ—हम कृमियों के पीड़ादायक अङ्गों का विनाश करते हैं।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त कृमियों के समूलोच्छेन का निर्देश करता है। इन कृमियों के विनाश से रोगों का उन्मूलन करके सब प्रकार की उन्नति (चतुर्मुखी उन्नति) करनेवाला ब्रह्मा अगले सूक्त का ऋषि है। यह पूर्णरूप से यक्ष्म (रोग) का निबर्हण (विनाश) करता है। यह यक्ष्मनिबर्हण ही अगले सूक्त का विषय है—

३३. [त्रयस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**यक्ष्मविवर्हणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यक्ष्मनिबर्हण

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि।
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते ॥ १ ॥

१. यक्ष्म (रोग) से आक्रान्त पुरुष से ब्रह्मा (ज्ञानी वैद्य) कहता है कि **ते**=तेरे **अक्षीभ्याम्**=आँखों से **यक्ष्मम्**=रोग को **विवृहामि**=(उद्धरामि) पृथक् करता हूँ। इसीप्रकार **नासिकाभ्याम्**=घ्राणेन्द्रिय के अधिष्ठानभूत नासादि छिद्रों से **कर्णाभ्याम्**=श्रोत्रों से **छुबुकात् अधि**=ओष्ठ के अधर प्रदेश (ठोडी) से तेरे रोगों को पृथक् करता हूँ। २. **शीर्षण्यं यक्ष्मम्**=सिर में होनेवाले रोगों को दूर करता हूँ। **मस्तिष्कात्**=शिरःप्रदेश के अन्तर्भाग में स्थित मांसविशेष मस्तिष्क है—उससे और **जिह्वायाः**=रसना से तेरे रोग को उखाड़ फेंकता हूँ।

भावार्थ—आँख, नासिका, कान, ठोडी, सिर, मस्तिष्क व जिह्वा से रोग को दूर किया जाए।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**यक्ष्मविवर्हणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ग्रीवादि से रोगोद्बर्हण

ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात्।
यक्ष्मं दोषण्य१मंसाभ्यां बाहुभ्यां वि वृहामि ते ॥ २ ॥

१. हे व्याधिगृहीत! **ते**=तेरी **ग्रीवाभ्यः**=ग्रीवा की अवयवभूत चौदह सूक्ष्म अस्थियों से

यक्ष्मम्-रोग को **विवृहामि**-पृथक् करता हूँ, **उष्णिहाभ्यः**=धमनियों से—रक्तादि से उत्स्नात नाड़ियों (गुद्दी की नाड़ियों) से, **कीकसाभ्यः**-जत्रु व क्षेत्रगत् अस्थियों से (हँसली की हड्डियों से), **अनूक्यात्**-रीढ की हड्डी से तेरे रोग को दूर करता हूँ (अनुक्रमेण उच्यन्ति समवर्यान्त अस्थीनि अस्मिन्)। २. **दोषण्यम्**-भुजाओं में होनेवाले **यक्ष्मम्**-रोग को दूर करता हूँ। मैं **ते**-तेरे **यक्ष्मम्**-रोग को **अंसाभ्याम्**-कन्धों से, **बाहुभ्याम्**-बाहुओं से **विवृहामि**=पृथक् करता हूँ।

भावार्थ—ग्रीवा, उष्णिहा, कीकसा, अनूक्य, भुजा, कन्धे व हाथों से रोग को दूर किया जाए।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**यक्ष्मविवर्हणम्**॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्**॥

हृदयात्ते परि क्लोम्नो हलीक्ष्णात्पार्श्वाभ्याम्।
यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीह्नो यक्नस्ते वि वृहामसि॥ ३॥

१. हे रुग्ण! **ते**-तेरे **हृदयात्**-हृदयपुण्डरीक से, **परिक्लोम्नः**-हृदय के समीपस्थ फेफड़े से, **हलीक्ष्णात्**-पित्ताशय से, **पार्श्वाभ्याम्**-दोनों कोखों से—पार्श्वावयवों से **यक्ष्मम्**-रोग को **विवृहामसि**-पृथक् करते हैं। २. **ते**-तेरे **मतस्नाभ्याम्**-गुर्दों से **प्लीह्नः**-तिल्ली से और **यक्नः**-जिगर से रोग को दूर करते हैं।

भावार्थ—हृदयादि प्रदेशों से रोग का उन्मूलन किया जाए।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**यक्ष्मविवर्हणम्**॥ छन्दः—**चतुष्पदाभुरिगुष्णिक्**॥

आन्त्र आदि से रोग का दूर करना

आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोरुदरादधि।
यक्ष्मं कुक्षिभ्यां प्लाशेर्नाभ्या वि वृहामि ते॥ ४॥

१. **ते**-तेरी **आन्त्रेभ्यः**-आँतों से **गुदाभ्यः**-गुदा से—मल-मूत्र प्रवहण मार्गों से **वनिष्ठोः**-स्थविरान्त्र से (मलस्थान से), **उदरात् अधि**-सर्वाधारभूत जठर से **यक्ष्मम्**-रोग को **विवृहामि**-पृथक् करता हूँ। २. **कुक्षिभ्याम्**-दक्षिण व उत्तर उदर-भागों से (दाएँ-बाएँ पासे से) **प्लाशेः**-बहुछिद्र मलपात्र से (अन्दर की थैली से) और **नाभ्याः**=नाभि से **ते**-तेरे **यक्ष्मम्**-रोगों को **विवृहामि**=निकाल फेंकता हूँ।

भावार्थ—आन्त्र आदि प्रदेशों से रोग-बीजों को दूर किया जाए।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**यक्ष्मविवर्हणम्**॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्विराड्बृहती**॥

ऊरु आदि की नीरोगता

ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम्।
यक्ष्मं भसद्यं श्रोणिभ्यां भासदं भंससो वि वृहामि ते॥ ५॥

१. हे रोगार्त! **ते**-तेरी **ऊरुभ्याम्**-जाँघों से, **अष्ठीवद्भ्याम्**-घुटनों से **पार्ष्णिभ्याम्**-पाँवों के ऊपर-भाग, अर्थात् एडियों से और **प्रपदाभ्याम्**-पाँवों के अग्रभाग से **यक्ष्मम्**-रोग को **विवृहामि**-पृथक् करता हूँ। २. **भसद्यम्**-कटिप्रदेश में होनेवाले **यक्ष्मम्**-रोग को दूर करता हूँ। **श्रोणिभ्याम्**=कटि के अधर-भागों से रोग को दूर करता हूँ। इसीप्रकार **ते**-तेरे **भासदम्**-गुह्यप्रदेश में होनेवाले रोग को **भंससः**-भासमान गुह्यस्थान से पृथक् करता हूँ (भस दीप्तौ)।

भावार्थ—जाँघों आदि प्रदेशों में होनेवाले रोगों को नष्ट किया जाए।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**यक्ष्मविवर्हणम्** ॥ छन्दः—**उष्णिग्गर्भानिचृदनुष्टुप्** ॥

धातुगत-रोगविनाश

अस्थिभ्यस्ते मज्जभ्यः स्नावभ्यो धमनिभ्यः।
यक्ष्मं पाणिभ्यामङ्गुलिभ्यो नखेभ्यो वि वृहामि ते॥ ६॥

१. **ते**=तेरी **अस्थिभ्यः**=हड्डियों से, **मज्जभ्यः**=मज्जासे **यक्ष्मम्**=रोग को **विवृहामि**=दूर करता हूँ। यहाँ अस्थि और मज्जा शब्द सब धातुओं के प्रतीक हैं(अस्थिमज्जाशब्दौ सर्वधातूपलक्षकौ—सा०)। शरीरगत सब धातुओं से रोग को दूर करता हूँ। **स्नावभ्यः** सूक्ष्म शिराओं से तथा **धमनिभ्यः**-स्थूल शिराओं से तेरे रोग को दूर करता हूँ। २. **ते**=तेरे **पाणिभ्याम्**-हाथों से, **अङ्गुलिभ्यः**-अंगुलियों से तथा **नखेभ्यः**=नखों से **यक्ष्मम्**=रोग को **विवृहामि**=दूर करता हूँ।

भावार्थ—अस्थ्यादिगत रोगों को दूर किया जाए।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**यक्ष्मविवर्हणम्** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

अङ्ग-प्रत्यङ्गों में होनेवाले रोगों का नाश

अङ्गेअङ्गे लोम्निलोम्नि यस्ते पर्वणिपर्वणि।
यक्ष्मं त्वचस्यं ते वयं कश्यपस्य वीबर्हेण विष्वञ्चं वि वृहामसि॥ ७॥

१. पूर्व मन्त्र में शरीर के विशिष्ट अङ्गों से रोगों को दूर करने का संकेत हुआ है। अप्रसिद्ध अवयवों से भी उसके दूर करने का प्रतिपादन इस मन्त्र में किया गया है। हे रुग्ण! **ते**-तेरे **अङ्गे अङ्गे**-अनुक्त सब अवयवों में, **लोम्नि लोम्नि**=सब रोम-कूपों में, **पर्वणि पर्वणि**=सब सन्धियों में होनेवाले **यक्ष्मम्**-रोग को **विवृहामि**=मैं पृथक् करता हूँ। २. **वयम्**-हम **ते**-तेरे **त्वचस्यम्**-त्वचा में होनेवाले **विष्वञ्चम्**=चक्षु आदि सब अवयवों में व्याप्त होनेवाले रोग को **कश्यपस्य**=(पश्यकस्य) ज्ञानी पुरुष के **वीबर्हेण**-(बृह to destroy, to kill) रोगघातक प्रयोग से नष्ट करते हैं। ज्ञानी वैद्य रोग के मूलकारण को समझकर रोग को नष्ट करने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—अङ्ग-प्रत्यङ्ग में होनेवाले,रोम-कूपों व जोड़ों में होनेवाले, त्वचा के विविध प्रदेशों में होनेवाले रोगों को नष्ट किया जाए।

विशेष—अङ्ग-प्रत्यङ्ग से रोगोन्मूलन करके पूर्ण स्वस्थ होने का वर्णन इस सूक्त में हुआ है। अब स्वस्थ बनकर यह स्थिर व शान्त बनता है—'अथर्वा'। यह प्राणसाधना से मन को स्थिर करके पशुपति(प्रभु) का ध्यान करता है—

३४. [चतुस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पशुपतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पशुपति-निष्क्रय

य ईशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम्।
निष्क्रीतः स यज्ञियं भागमेतु रायस्पोषा यजमानं सचन्ताम्॥ १॥

१. **यः**=जो **पशुपतिः**=सब प्राणियों का स्वामी(पशूनां पतिः) अथवा सर्वद्रष्टा व सर्वरक्षक प्रभु (पशुश्चासौ पतिश्च) **पशूनां ईशे**=सब पशुओं का ईश है, **चतुष्पदाम्**=जो भी चार पैरवाले पशु हैं उनके तो वे पशुपति ईश है ही, **उत**=और **यः**-जो पशुपति **द्विपदाम्**-दो पाँवोंवाले मनुष्यों के भी ईश हैं, **सः**=वह पशुपति **निष्क्रीतः**-विषय-त्यागरूप मूल्य से पुनः प्राप्त किये हुए **यज्ञियं भागम्**-यज्ञ-सम्बन्धी भाग को **एतु**-प्राप्त हो, अर्थात् हम वैषयिक वृत्तियों से ऊपर उठकर यज्ञों

का सेवन करनेवाले हों और इन यज्ञों द्वारा उस प्रभु की उपासना करें। २. इसप्रकार उपासना करनेवाले **यजमानम्**-यज्ञशील पुरुष को **रायस्पोषाः सचन्ताम्**-धनों की पुष्टि समेवत हो।

भावार्थ—प्रभु ही सबके ईश हैं। मनुष्य विषयों से पृथक् होकर प्रभु को प्राप्त करता है और यज्ञों से उसका उपासन करता है। ऐसा करने पर यज्ञशील पुरुषों को धनों की कमी नहीं रहती।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वीर्यरक्षण व सात्त्विक अन्न-सेवन

प्रमुञ्चन्तो भुवनस्य रेतो गातुं धत्त यजमानाय देवाः।
उपाकृतं शशमानं यदस्थात्प्रियं देवानामप्येतु पाथः॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जो वैषयिक वृत्ति से ऊपर उठेंगे वे देव बनेंगे। इन देवों से कहते हैं कि—हे **देवाः** देववृत्ति के पुरुषो! **भुवनस्य** (भुवन Becoming prosperous) समृद्ध होने का साधनभूत जो **रेतः** वीर्य है, उस वीर्यशक्ति को **प्रमुञ्चन्तः** धारण करते हुए (put on, wear) अथवा वासनाओं से मुक्त करते हुए (liberate) तुम **यजमानाय** सृष्टियज्ञ के रचयिता प्रभु की प्राप्ति के लिए **गातुम्**-मार्ग को **धत्त** धारण करो। वस्तुतः वीर्यरक्षण ही प्रभु-प्राप्ति का साधन बनता है। इस लोक में भी यह वीर्यरक्षण ही समृद्धि का साधन बनता है। २. **यत् उपाकृतम् अस्थात्**-जो सम्यक्तया संस्कृत किया गया है, **शशमानम्**-(अर्चतिकर्मा—नि० ३.१४) जो अर्चित व पूजित है, **देवानां प्रियम्** चक्षु आदि सब इन्द्रियों का तर्पण करनेवाला है (प्री तर्पणे) वह **पाथः**-अन्न **अपि एतु** हमारी ओर आनेवाला हो, हमें प्राप्त हो।

भावार्थ—हम वीर्यरक्षण के द्वारा प्रभु प्राप्ति के मार्ग पर चलें। सुसंस्कृत, पूजित, इन्द्रिय शक्ति को बढ़ानेवाले अन्नों को खाएँ। ऐसे अन्न का सेवन वीर्यरक्षण में सहायक होता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निर्विश्वकर्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वीर्य-रक्षण व प्रभु-दर्शन

ये बध्यमानमनु दीध्याना अन्वैक्षन्त मनसा चक्षुषा च।
अग्निष्टानग्रे प्र मुमोक्तु देवो विश्वकर्मा प्रजया संरराणः॥ ३॥

१. गतमन्त्र में वीर्य को अपने शरीर में सुरक्षित करने का उपदेश है। यही शरीर में वीर्य का बन्धन है। **ये**-जो लोग **बध्यमानम् अनु** शरीर में बाँधे जाते हुए व सुरक्षित किये जाते हुए वीर्य के अनुसार **दीध्यानाः**-(दीधी to shine) चमकते हुए, तेजस्वी होते हुए, **मनसा**-मन से तथा **चक्षुषा**-चक्षु से **अन्वैक्षत** अपने में आत्मा का दर्शन करते हैं। वीर्यरक्षण से बुद्धि तीव्र बनती है और इस तीव्र बुद्धि से प्रभु का दर्शन होता है। वीर्य रक्षण करनेवाला पुरुष तेजस्वी बनता है, इसकी सब इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि उत्कृष्ट बनते हैं। यह मन से उस आत्मा का मनन करता है तो आँख से सर्वत्र उसकी महिमा को देखता है। २. **तान्**=इन मनन व दर्शन करनेवाले पुरुषों को **अग्निः**-वह अग्रणी प्रभु **अग्रे** सर्वप्रथम **प्रमुमोक्तु**-मोक्ष प्राप्त कराता है, वे प्रभु जोकि **देवः**-प्रकाशमय हैं, **विश्वकर्मा**-सृष्टि रचनरूप कर्मवाले हैं और **प्रजया संरराणः** सब प्रजाओं के साथ रमण करनेवाले हैं। वस्तुतः 'प्रजा' शब्द उनके लिए प्रयुक्त होता है, जो अपनी शक्तियों का प्रकृष्ट प्रादुर्भाव करनेवाले हैं। इनमें ही प्रभु का वास होता है।

भावार्थ—वीर्य रक्षण से मनुष्य दीप्त बनता है, प्रभु का दर्शन करता है और मोक्ष प्राप्त करता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वायुः, प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

स्वार्थ से ऊपर, मिलकर

ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपा विरूपाः सन्तो बहुधैकरूपाः।
वायुष्टानग्रे प्र मुमोक्तु देवः प्रजापतिः प्रजया संरराणः ॥ ४ ॥

१. **वायुः**=गति के द्वारा सब अशुभों का हिंसन करनेवाला (वा गतिगन्धनयोः) **देवः**=प्रकाशमय प्रभु **तान्**=उन्हें **अग्रे प्रमुमोक्तु**=सर्वप्रथम मुक्त करता है, **ये**=जो **ग्राम्याः**-केवल स्वार्थमय जीवन न बिताकर सम्पूर्ण ग्राम के हित के लिए प्रवृत्त होते हैं (ग्रामाय हिताः) **पशवः**=(पश्यन्ति) देखकर चलते हैं तथा **विश्वरूपाः**=उस सर्वत्र प्रविष्ट प्रभु का निरूपण करनेवाले हैं, जो **बहुधा विरूपाः सन्तः**=बहुत प्रकार से, भिन्न-भिन्न रूपोंवाले होते हुए भी **एकरूपाः**=उद्देश्य की दृष्टि से एक रूप होते हैं—समान उद्देश्य से विविध कार्यों में प्रवृत्त होते हैं—प्रभु इन्हें मुक्त करते हैं। २. ये प्रभु ही वस्तुतः **प्रजापतिः**=सब प्रजाओं के रक्षक हैं, **प्रजया संरराणः**=सब प्रजाओं के साथ रमण करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम स्वार्थ से ऊपर उठकर मिलकर चलें—यही मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**आशीः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्राणसाधना

प्रजानन्तः प्रति गृह्णन्तु पूर्वे प्राणमङ्गेभ्यः पर्याचरन्तम्।
दिवं गच्छ प्रति तिष्ठा शरीरैः स्वर्गं याहि पथिभिर्देवयानैः ॥ ५ ॥

१. **प्रजानन्तः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले, **पूर्वे**=अपना पालन और पूरण करनेवाले लोग **पर्याचरन्तम्**-शरीर में सर्वत्र गति करते हुए **प्राणम्**=प्राण को **अङ्गेभ्यः प्रतिगृह्णन्तु**=सब अङ्गों से निरुद्ध करें—इसे सब अङ्गों में विचरण करने से रोककर अपने में ही स्थापित करें। २. इसप्रकार प्राणनिरोध के द्वारा ही हे जीव! तू **दिवं गच्छ**=प्रकाश को प्राप्त हो। प्राण-निरोध से वीर्यरक्षा होकर बुद्धि तीव्र बनती है। **शरीरैः प्रतितिष्ठाः**=इस प्राणनिरोध के द्वारा तू शरीरों से प्रतिष्ठित हो। तेरे 'स्थूल, सूक्ष्म और कारण'—सब शरीर ठीक हों। प्राण-निरोध के द्वारा **देवयानैः पथिभिः**-देवयान मार्गों से **स्वर्गं याहि**=स्वर्ग को प्राप्त कर। प्राण-निरोध से सब वासनाओं का विनाश होता है और उत्तम प्रवृत्ति होकर मनुष्य स्वर्ग को प्राप्त करता है—सदा देवयानमार्ग से चलता है—देवतुल्य प्रवृत्तिवाला होता है। ३. हमारे तीन कर्त्तव्य हैं—(क) ज्ञान प्राप्त करें, (ख) अपना पालन व पूरण करें, (ग) प्राणसाधना द्वारा प्राण को वश में करें। सदा ज्ञान-प्राप्ति में लगे रहने से हम प्रकाश को प्राप्त करेंगे (दिवं गच्छ)—हमारा दृष्टिकोण सुलझा हुआ होगा और हम सन्तान, धन, यश में फँसेंगे नहीं। यदि हम अपने पालन व पूरण का ध्यान करेंगे, तो 'प्रतितिष्ठा शरीरैः' हमारे शरीर बड़े ठीक रहेंगे। प्राण-साधना से चित्तवृत्ति का निरोध होने से हम देवायान मार्ग से चलेंगे और स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मस्तिष्क बनेंगे। ऐसा बनने में ही स्वर्ग का आनन्द है। मस्तिष्क स्वस्थ न हो तो हम पागलखाने में होते हैं, शरीर स्वस्थ न हो तो चिकित्सालय में। दोनों के स्वस्थ होने पर ही हम घर पर स्वर्ग सुख का आनन्द अनुभव करते हैं।

भावार्थ—प्राणनिरोध से शरीर स्वस्थ होता है, ज्ञान प्रकाश प्राप्त होता है और मनुष्य देवतुल्य प्रवृत्तिवाला बनता है।

विशेष—इस सूक्त में जीवन को अत्यन्त उत्कृष्ट बनाने का उल्लेख है। यह अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाला 'अङ्गिरा' बनता है और 'विश्वकर्मा' प्रभु का उपासन करता है—

३५. [पञ्चत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—अङ्गिराः ॥ देवता—विश्वकर्मा ॥ छन्दः—बृहतीगर्भात्रिष्टुप् ॥

अनिष्ट व दुरिष्ट से दूर

ये भक्षयन्तो न वसून्यानृधुर्यानग्नयो अन्वतप्यन्त धिष्ण्याः।
या तेषामवया दुरिष्टिः स्विष्टिं नस्तान्कृणवद्विश्वकर्मा॥ १॥

१. **ये** जो **भक्षयन्तः**-नाना प्रकार के भोग्य पदार्थों को खाते हुए **वसूनि न आनृधुः** यज्ञों को समृद्ध नहीं करते (यज्ञो वै वसुः—य० १.२), 'भोग विलास में ही सब धन का व्यय कर देते हैं और यज्ञों के करने का ध्यान नहीं करते', वे 'अयष्टा' कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त वे लोग जो यज्ञ तो करते हैं, परन्तु इन यज्ञों को सर्वाङ्गसम्पूर्ण न करके उनमें अधूरेपन को पैदा कर देते हैं, ऐसे जिन लोगों के लिए **धिष्ण्याः**-वेदि में स्थित **अग्नयः**-अग्नियाँ मानो **अन्वतप्यन्त** अनुतापयुक्त होती हैं, अर्थात् जो लोग यज्ञों को ठीक रूप से न करके किसी अङ्ग से विकल ही रहने देते हैं—ये दुर्यष्टा कहलाते हैं। २. **तेषाम्**-उन अयष्टा और दुर्यष्टा पुरुषों की **या** जो **अवयाः**-(अवयजनम् यागाननुष्ठानं दुरिष्टः) यज्ञ न करने की प्रवृत्ति है, अथवा **दुरिष्टिः**-यज्ञ को अधूरा करने की वृत्ति है, **विश्वकर्मा**-सब कर्मों को करनेवाले अथवा सम्पूर्ण नकि अधूरे कर्मों को करनेवाले प्रभु **नः** हमारे लिए **ताम्**-उसे **स्विष्टम्** शोभन इष्टि ही **कृणवत्**-करे। प्रभु हमसे अनिष्टि व दुरिष्टि को दूर करके हमें स्विष्टि प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—हम यज्ञ न करनेवाले न हों और यज्ञों को अधूरा भी न करें। हम सर्वाङ्ग सम्पूर्ण यज्ञों को करनेवाले बनें।

ऋषिः—अङ्गिराः ॥ देवता—विश्वकर्मा ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

पाप से पृथक्

यज्ञपतिमृषय एनसाहुर्निर्भक्तं प्रजा अनुतप्यमानम्।
मथव्यान्त्स्तोकानप यान्रराध सं नष्टेभिः सृजतु विश्वकर्मा॥ २॥

१. **ऋषयः**-तत्त्वद्रष्टा ज्ञानी लोग **प्रजाः अनुतप्यमानम्**-प्रजाओं के दुःख से दुःखी होते हुए **एनसा निर्भक्तम्** पाप से पृथक् हुए-हुए **यज्ञपतिम्** यज्ञ के रक्षक, यज्ञशील पुरुष को **आहुः**-कहते हैं। जो भोगमय जीवन न बिताकर औरों के दुःख से दुःखी होता है तथा यज्ञमय जीवन बिताता है, उसके पाप नष्ट हो जाते हैं। २. **मथव्यान्** (मथ् to kill) रोगबीजों के नाश में उत्तम **यान्** जिन **स्तोकान्** रेतःकणों को—वीर्य-बिन्दुओं को भोगप्रधान पुरुष **अपरराध**-नष्ट कर बैठता है, **विश्वकर्मा**-कर्मों को सम्पूर्ण रूप में करनेवाले वे प्रभु **नः**-हमें **तेभिः**-उन वीर्य-बिन्दुओं से **संसृजतु**-संसृष्ट करें। वस्तुतः यज्ञशील पुरुष ही इन वीर्य बिन्दुओं का रक्षण कर पाता है, भोगप्रधान जीवनवाला मनुष्य इनका नाश कर बैठता है, इसलिए यज्ञपति का जीवन ही निष्पाप होता है।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनें, दूसरों के दुःख से दुःखी हों। रोगसंहारक रेतःकणों का रक्षण करनेवाले बनें। यदि भोगमय जीवन होगा तो वीर्य-कणों का नाश करके हम दुःख भागी होंगे।

ऋषिः—अङ्गिराः ॥ देवता—विश्वकर्मा ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

यज्ञों में निरहंकारता

अदान्यान्त्सोमपान्मन्यमानो यज्ञस्य विद्वान्त्समये न धीरः।
यदेनश्चकृवान्बद्ध एष तं विश्वकर्मन्प्र मुञ्चा स्वस्तये॥ ३॥

१. **यज्ञस्य विद्वान्**-यज्ञा का ज्ञाता **समये**=(सम् आयन्ति संगच्छन्ते यत्र) एकत्र होने के स्थान में—सभास्थल में **न धीरः**=धीरता से काम न लेनेवाला—अहंकारवश कुछ का कुछ बोल—देनेवाला **सोमपान्**-सोम का शरीर में रक्षण करनेवाले संयमी पुरुषों को भी **अदान्यान्**=दान के अयोग्य **मन्यमानः**=मानता हुआ **यत्**=जो **एनः**=पाप **चकृवान्**-कर बैठता है, **एषः**-यह **बद्धः**-अहंकार के बन्धन में बँधा हुआ है। यज्ञ के विषय में ज्ञान रखता हुआ भी यह अभी अहंकार से ऊपर नहीं उठ पाया, तभी अपनी तुलना में औरों को हीन समझता है, उनका निरादर भी कर बैठता है। २. हे **विश्वकर्मन्**=कर्मों को सम्पूर्णता से करनेवाले प्रभो! आप **तम्**=उसे इस अंहकार से **प्रमुञ्च**=मुक्त कीजिए, जिससे **स्वस्तये**=उसका कल्याण हो। यह अहंकार उसके पतन का कारण न बन जाए।

भावार्थ—वस्तुतः ज्ञानी व यज्ञशील वही है जो अहंकार रहित हो गया है। अहंकारयुक्त तो अभी बद्ध ही है।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**विश्वकर्मा** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

विनीतता, नमस्कार

घो॒रा ऋष॑यो॒ नमो॑ अस्त्वेभ्य॒श्चक्षु॒र्यदे॑षां॒ मन॑सश्च स॒त्यम्।
बृह॒स्पत॑ये महिष द्यु॒मन्नमो॒ विश्व॑कर्म॒न्नम॑स्ते पा॒ह्य१॒स्मान्॥ ४॥

१. **ऋषयः**-ये तत्त्वद्रष्टा लोग **घोराः**=(Venerable, awful, sublime) बड़े उत्कृष्ट हैं, **एभ्यः**=इनके लिए **नमः अस्तु**-हमारा नमस्कार हो। इनके लिए हम इसलिए नतमस्तक होते हैं **यत्**-चूँकि **एषां चक्षुः**=इनकी दृष्टि महत्त्वपूर्ण है—ये प्रत्येक वस्तु के तत्त्व को देखते हैं **च**=और **मनसः सत्यम्**=इनके मन में सत्य है। २. **बृहस्पतये**-ज्ञान के पति के लिए हम **नमः**-नमस्कार करते हैं। हे **महिष**=पूज्य, **द्युमत्**=ज्योतिर्मय **विश्वकर्मन्**=सब कर्मों को करनेवाले प्रभो! ते **नमः**=आपके लिए हमारा नमस्कार हो। **अस्मान् पाहि**=हम अहंकारशून्य व विनीत पुरुषों की आप रक्षा कीजिए।

भावार्थ—हम ऋषियों, ज्ञानियों का आदर करें, प्रभु के प्रति प्रणत हों। यह अहंकारशून्यता—नम्रता ही कल्याण का मार्ग है।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**विश्वकर्मा** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

मुख्य होता 'प्रभु'

य॒ज्ञस्य॒ चक्षुः॒ प्रभृ॑ति॒र्मुखं॑ च वा॒चा श्रोत्रे॑ण॒ मन॑सा जुहोमि।
इ॒मं य॒ज्ञं वित॑तं विश्वक॑र्म॒णा दे॒वा य॑न्तु सुमन॒स्यमा॑नाः॥ ५॥

१. वे प्रभु **यज्ञस्य चक्षुः**=यज्ञ के दिखलानेवाले हैं, यज्ञों का ज्ञान देनेवाले हैं, **प्रभृतिः**=वे ही इन यज्ञों का भरण करनेवाले हैं, प्रभुकृपा के बिना कोई भी यज्ञ पूर्ण नहीं होता। **मुखं च**-वे प्रभु ही इस यज्ञ के मुख हैं—प्रवर्तक हैं, प्रत्येक यज्ञ प्रभु की उपासना से ही आरम्भ हुआ करता है। २. इसलिए **वाचा**=प्रभु के गुणों का उच्चारण करती हुई वाणी से, **श्रोत्रेण**=प्रभु-गुण श्रवण करते हुए कानों से, **मनसा**-प्रभु की महिमा का मनन करते हुए मन से **जुहोमि**=मैं प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता हूँ। ३. **विश्वकर्मणा**=कर्मों को सम्पूर्णरूप से करनेवाले प्रभु से **विततम्**=विस्तृत किये गये **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ को **सुमनस्यमानाः**-उत्तम मनवालों की भाँति आचरण करते हुए **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **यन्तु**=प्राप्त हों। यज्ञों को करें, परन्तु इन यज्ञों को प्रभु से सम्पन्न होता हुआ जानें। इसप्रकार अहंकारशून्य होते हुए उत्तम मनवाले बने रहें। अहंकार आया तो

यह देवों का यज्ञ न होकर असुरों का यज्ञ हो जाता है। '**यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्**'।

भावार्थ—हम यज्ञों में प्रवृत्त हों, परन्तु उन यज्ञों को प्रभु से होता हुआ जानें।

विशेष—प्रस्तुत सूक्त में यज्ञमय जीवन का प्रतिपादन है। इसी यज्ञ में सहायता के लिए पति पत्नी का व पत्नी पति का वरण करती है। 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' इस सूत्र से यज्ञसंयोग में पत्नी शब्द बनता है। पति-पत्नी को मिलकर यज्ञ को सिद्ध करना है, अतः अगला सूक्त 'पतिवेदन' ऋषि का है। पति 'अग्नि' है तो पत्नी 'सोम'। पति-पत्नी के विषय में मन्त्र कहता है—

३६. [षट्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**पतिवेदनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

सुमतिं सम्भलः (गमेत्)

आ नो॑ अग्ने सु॒म॒तिं सं॑भ॒लो ग॑मेदि॒मां कु॑मा॒रीं स॒ह नो॒ भगे॑न।
जु॒ष्टा व॒रेषु॒ सम॑नेषु व॒ल्गुरो॒षं पत्या॒ सौभ॑गमस्त्व॒स्यै॥ १ ॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **नः**=हमारी **सुमतिम्**=कल्याणी मतिवाली, समझदार इस कन्या को **सम्भलः**=(भल परिभाषणे) बोलने में अत्यन्त मधुर वर **आगमेत्**=प्राप्त हो। कन्या सुमति है—छल-छिद्रवाली नहीं, उसे साधुस्वभाव पति ही प्राप्त हो। २. **नः**=हमारी **इमां कुमारीम्**=इस कुमारी को **भगेन सह**=ऐश्वर्य के साथ यह वर प्राप्त हो। पति के लिए आवश्यक है कि वह कमानेवाला हो, क्योंकि गृहस्थ बिना धन के चल ही नहीं सकता। ३. हमारी यह कन्या **समनेषु**=(सहृदयेषु—सा०) सहृदय—प्रेम-दयादि भावों से पूर्ण हृदयवले **वरेषु**=वरपक्ष के व्यक्तियों में **जुष्टा**=प्रीतिपूर्वक सेवा करनेवाली हो—उन्हें प्रिय हो। **वल्गुः**=इसका जीवन वहाँ सुन्दर हो। **पत्या**=पति के साथ **ओषम्**=सब प्रकार सहनिवासवाला—सहनिवासका साधनभूत **सौभगम्**=सौभाग्य **अस्यै अस्तु**=इसके लिए हो।

भावार्थ—पति बोलने में मधुर (संभलः), कमानेवाला (भगेन सह), पत्नी के साथ कार्यों को करनेवाला (ओषं सौभगम्) हो। पत्नी समझदार (सुमतिः), सर्वप्रिय (जुष्टा) व सुन्दर जीवनवाली (वल्गुः) हो।

ऋषिः—**पतिवेदनः** ॥ देवता—**सोम, अर्यमा, धाता** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सौम्य, सुलझी हुई, संयत जीवनवाली (कन्या)

सोम॑जुष्टं॒ ब्रह्म॑जुष्टमर्य॒म्णा संभृ॑तं॒ भग॑म्।
धा॒तुर्दे॒वस्य॑ स॒त्येन॑ कृ॒णोमि॑ पति॒वेद॑नम्॥ २ ॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में कन्या का पिता कहता है—**भगम्**=मैं कन्यारूप अपने इस ऐश्वर्य को उस **धातुः देवस्य**=सबके धारक—सब व्यवहारों के साधक प्रभु के **सत्ये**=सत्यनियम के अनुसार **पतिवेदनम्**=पति का धन **कृणोमि**=करता हूँ, अर्थात् अपनी कन्या का हाथ योग्य पति के हाथ में देता हूँ। पिता का यह भी एक नितान्त महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य है कि कन्या को योग्य पति को सौंपने का प्रयत्न करे। इसी कर्त्तव्य के पालन से एक अच्छे घर की नींव पड़ती है। २. प्रभु के नियम के अनुसार कन्या को एक नये घर के निर्माण के लिए अन्य स्थान पर भेजना ही होता है। उत्तम सन्तान के निर्माण के लिए विभिन्न रुधिरों का मिश्रण आवश्यक होता है। ३. यह कन्यारूप धन कैसा है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है—**सोमजुष्टम्**=यह सोम से

सेवित हुई है, अर्थात् स्वभाव के दृष्टिकोण से यह कन्या अत्यन्त सौम्य बनी है, **ब्रह्मजुष्टम्**=ज्ञान से सेवित हुई है, अर्थात् इसने खूब ज्ञान प्राप्त किया है, **अर्यम्णा सम्भृतम्**=अर्यमा से इसका सम्भरण किया गया है—'**अरीन् यच्छति इति अर्यमा**'—इसने काम-क्रोध आदि शत्रुओं का नियमन किया है। संक्षेप में यह कन्या स्वभाव में सौम्य है, मस्तिष्क में ज्ञानोज्ज्वला बनी है और अत्यन्त संयमी जीवनवाली है।

भावार्थ—माता-पिता कन्या में 'सौम्यता, ज्ञान व संयम' उत्पन्न करें। ऐसी कन्या ही अच्छे घर का निर्माण कर सकती है।

ऋषिः—**पतिवेदनः** ॥ देवता—**अग्नीषोमौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पुत्रजन्म व सौभाग्य

इयमग्ने नारी पतिं विदेष्ट सोमो हि राजा सुभगां कृणोति।
सुवाना पुत्रान्महिषी भवाति गत्वा पतिं सुभगा वि राजतु॥ ३॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **इयम्**=गतमन्त्र में वर्णित गुणोंवाली **नारी**=कन्या **पतिं विदेष्ट**=पति को प्राप्त करे। **हि**=निश्चय से **सोमः**=सौम्य स्वभाववाला **राजा**=व्यवस्थित जीवनवाला (राज्= Regulated) दीप्त जीवनवाला (राज् दीप्तौ) यह पति इस नारी को **सुभगां कृणोति**=सौभाग्यवाला करता है। पति इसके जीवन को सदा सौभाग्य-सम्पन्न बनाने का प्रयत्न करता है। २. यह नारी **पुत्रान् सुवाना**=पुत्रों को जन्म देती हुई **महिषी**=आदरणीय **भवाति**=होती है। सामान्यत सन्तानोत्पादन में असमर्थ पत्नी उचित आदर नहीं पाती है। कन्या के माता-पिता चाहते हैं कि यह कन्या **पतिं गत्वा**=अपने पति को प्राप्त करके **सुभगा**=सौभाग्यवाली होती हुई **विराजतु**=विशेषरूप से शोभावाली हो। कन्या अपने पतिगृह में ही शोभा पाती है। उसे इस अपने बनाये हुए घर को ही अपना घर समझना चाहिए। आज तक वह जिस घर में थी, वह घर तो उसकी माता का घर था, उसे उसकी माता ने ही बनाया था।

भावार्थ—कन्या पतिगृह को प्राप्त करे। उसे ही वह अपना घर समझे। पति भी सौम्य स्वभाववाला व व्यवस्थित जीवनवाला हो।

ऋषिः—**पतिवेदनः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पति के साथ अविरोध

यथाखरो मघवंश्चारुरेष प्रियो मृगाणां सुषदा बभूव।
एवा भगस्य जुष्टेयमस्तु नारी संप्रिया पत्याविराधयन्ती॥ ४॥

१. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **यथा**=जैसे **एषः**=यह **आखरः**=बिल या माँद (cave) **चारुः**=सुन्दर है, **मृगाणां प्रियः**=इसमें निवास करनेवाले पशुओं की प्रीतिजनक है, **सुषदाः बभूव**=उनके लिए सुख से बैठने योग्य हुई है, **एव**=इसीप्रकार यह घर चाहे छोटा है, परन्तु सुन्दर है (चारुः), प्रीति देनेवाला है (प्रियः) तथा उठने-बैठने की पूरी सुविधावाला है (सुषदाः)। २. इस घर में रहती हुई **इयं नारी**=यह स्त्री **भगस्य जुष्टा**=ऐश्वर्य से प्रीतिपूर्वक सेवन की गई **अस्तु**=हो—इसे यहाँ ऐश्वर्य की कमी न रहे। **संप्रिया**=यह सबको अच्छी प्रकार प्रीणित करनेवाली हो—सबके लिए प्रिय बने। **पत्या**=पति के साथ **अविराधयन्ती**=विरोध करनेवाली न हो। गृहस्थ की सफलता का मूलमन्त्र तो पति के साथ अविरोध ही है।

भावार्थ—घर प्रिय, सुन्दर व सुखद हो। घर में धन-धान्य की कमी न हो। पति-पत्नी का पूर्ण सामञ्जस्य व मेल हो।

ऋषिः—**पतिवेदनः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ऐश्वर्यपूर्ण नाव

भगस्य नावमा रोह पूर्णामनुपदस्वतीम्।
तयोपप्रतारय यो वरः प्रतिकाम्यः ॥ ५ ॥

१. हे कन्ये! तू उस **नावम् आरोह**=गृहस्थ की नौका पर आरूढ़ हो जो **भगस्य पूर्णाम्**=ऐश्वर्य से पूर्ण है तथा **अनुपदस्वतीम्**=क्षीण होनेवाली नहीं, अर्थात् गृहस्थ में आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धन-धान्य की कमी न होनी चाहिए तथा गृहस्थ में भोगासक्त होकर शक्तियों को क्षीण न कर बैठें। २. **तया**=ऐसी गृहस्थ की नाव के द्वारा **उपप्रतारय**=उसके समीप अपने को प्राप्त करा **यः**=जोकि **प्रतिकाम्यः**=प्रत्येक दृष्टि से कमनीय—सुन्दर **वरः**=वर है। जो वर शारीरिक दृष्टिकोण से स्वस्थ है, मन के दृष्टिकोण से उदार है तथा मस्तिष्क के दृष्टिकोण से सुलझा हुआ है। पत्नी के उत्तम व्यवहार से घर फूलता-फलता है। घर जहाँ ऐश्वर्य-सम्पन्न बनता है, वहाँ इस घर के लोगों की शक्तियाँ भी अक्षीण बनी रहती हैं। पत्नी घर को सुन्दर बनाकर पति की अधिकाधिक प्रिय बनती है।

भावार्थ—पत्नी अपने प्रयत्न से घर की व्यवस्था को ऐसा बनाए कि घर का ऐश्वर्य बढ़े और सब गृहवासियों की शक्ति अक्षुण्ण बनी रहे। ऐसा करने पर पत्नी पति के अधिकाधिक समीप आ जाती है—पति की प्रियतमा बन जाती है।

ऋषिः—**पतिवेदनः** ॥ देवता—**धनपतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वर का सम्मान

आ क्रन्दय धनपते वरमामनसं कृणु।
सर्वं प्रदक्षिणं कृणु यो वरः प्रतिकाम्यः ॥ ६ ॥

१. हे **धनपते**=कन्यारूप धन का रक्षण करनेवाले कन्या के पितः! आप **वरम्**=वर को—अपनी कन्या के लिए साथी के रूप में वरण के योग्य युवक को **आक्रन्दय**=आदरपूर्वक आमन्त्रित कीजिए। उसे उचित व्यवहार से **आमनसम्**=सब प्रकार से अनूकूल मनवाला **कृणु**=कीजिए। २. **यः**=जो **प्रतिकाम्यः**=प्रत्येक दृष्टिकोण से—योग्यता, स्वभाव,धन व आयु आदि के विचार से चाहने योग्य **वरः**=वरणीय युवक है, उसके लिए **सर्वम्**=सब **प्रदक्षिणम् कृणु**=(Respectful, Reverential) आदरयुक्त कर्म करने का ध्यान रखिए। इस वर को उचित आदर देते हुए पिता वस्तुतः अपनी कन्या का मान बढ़ा रहा होता है। परिवार के शिष्टाचार से प्रभावित होकर ही वर कन्या के विषय में अपना उचित विचार बना पाता है।

भावार्थ—कन्यापक्षवाले वर को बुलाते हैं, उसे अपने व्यवहार से प्रभावित करके और उचितरूप में आदृत करके अनुकूल मनवाला करते हैं।

ऋषिः—**पतिवेदनः** ॥ देवता—**हिरण्यम्, भगः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दहेज

इदं हिरण्यं गुल्गुल्वयमौक्षो अथो भगः।
एते पतिभ्यस्त्वामदुः प्रतिकामाय वेत्तवे ॥ ७ ॥

१. **इदम्**=यह **हिरण्यम्**=स्वर्ण है—स्वर्ण के कुछ आभूषण आदि हैं। **गुल्गुलु**=गुड़ में पकाये गये कुछ भोज्य द्रव्य हैं। विवाह के बाद लौटने पर मार्ग के लिए ये भोज्य द्रव्य उपयुक्त होंगे। **अयम् औक्षः**=यह बैल या गाय के निमित्त धन है, **अथ उ**=और यह निश्चय से **भगः**=कन्या

के निमित्त रक्खा हुआ कुछ धन है। २. इन वस्तुओं को **एते**=ये कन्या पक्षवाले लोग **पतिभ्यः**=पति के पक्षवालों के लिए **अदुः**=देते हैं। इसलिए देते हैं कि वे **त्वाम्**=तुझे **प्रतिकामाय**=प्रत्येक दृष्टिकोण से चाहने योग्य पति को **वेत्तवे**=(विद् लाभे) प्राप्त करा सकें।

भावार्थ—वरपक्षवालों को सत्कार के लिए कुछ भेंट देनी आवश्यक ही है। यह सत्कार कन्या को उनके लिए प्रिय बनाता है।

ऋषिः—**पतिवेदनः** ॥ देवता—**ओषधिः** ॥ छन्दः—**निचृत्पुरउष्णिक्** ॥

आशीर्वाद

आ ते॑ नयतु सवि॒ता न॑यतु पति॒र्यः प्र॑तिका॒म्य ॑ः। त्वम॑स्यै धेह्योषधे॥ ८॥

१. जब कन्या घर से विदा होती है तब पुरोहित उसे आशीर्वाद देते हुए कहता है कि यह **सविता**=ऐश्वर्य को उत्पन्न करनेवाला **यः**=जो **प्रतिकाम्यः**=प्रत्येक दृष्टि से कमनीय व सुन्दर जीवनवाला **ते पतिः**=तेरा यह पति **नयतु**=तुझे यहाँ से ले-जानेवाला हो और **नयतु**=ले-जानेवाला ही हो। यह कभी तेरे प्रति असन्तुष्ट होकर तुझे वापस पितृगृह में भेजने की कामनावाला न हो। २. हे **ओषधे**=दोषदहन की शक्ति को धारण करनेवाले युवक! **त्वम्**=तू भी **अस्यै**=इस कन्या के लिए **धेहि**=धारण करनेवाला बन। कन्या को तो अपना व्यवहार इतना मधुर व सुन्दर बनाना ही चाहिए कि वरपक्षवालों को उससे किसी प्रकार की शिकायत न हो। पति को भी चाहिए कि वह पत्नी की सब अवश्यकताओं को उचित रूप से पूर्ण करनेवाला हो।

भावार्थ—पति पत्नी को जब ले-जाए तो ले-ही जाए, असन्तुष्ट होकर उसे पितृगृह में वापस भेजनेवाला न बने, उसका धारण करनेवाला हो।

विशेष—इस सम्पूर्ण सूक्त में पति-पत्नी के धर्मों का अत्यन्त सुन्दरता से चित्रण हुआ है। इस काण्ड का प्रारम्भ प्रभु अराधना से हुआ था। प्रभु का आराधन करनेवाले पति-पत्नी ही घर को सुन्दर बना पाते हैं, अतः काण्ड की समाप्ति पर इस स्वर्गतुल्य गृह के निर्माण का उपदेश हुआ है। इन घरों के रक्षण का उत्तरदायित्व राजा पर है। यह 'अथर्वा' न डाँवाडोल वृत्तिवाला-स्थिरवृत्तिवाला राजा शत्रुओं के आक्रमण से प्रजाओं का रक्षण करता है। इस भाव के प्रतिपादन के साथ तृतीय काण्ड आरम्भ होता है।

॥ इति द्वितीयं काण्डम् ॥